जैन भारती

फरवरी, 2011 • वर्ष 59 • अंक 2 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

स्व. झुमरमलजी बच्छावत

Deeplok Securities Ltd.

Rajendra Bachhawat
Surendra Bachhawat
Mahendra Bachhawat

"Ideal Plaza"
11/1, Sarat Bose Road, 2nd Floor, South Block
Room No. 207, Kolkata 700020
Tel : 2283 7495, 2283 7496

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह–संपादक

जैन भारती

वर्ष 59 • फरवरी, 2011 • अंक 2

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अर्हम् : बाहरी दुष्प्रभावों से बचने का मंत्र

17
प्रो. मुनि महेंद्रकुमार
जैन धर्म दर्शन : विश्व दृष्टि

23
डॉ. राजानंद
सभ्यता और संस्कृति कालगत अजस्र प्रवाह

•
आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

35
आचार्यश्री महाश्रमण
संयम के लिए योग-साधना व इंद्रिय निग्रह—एक पहलू

36
यह विकास मौलिक मर्यादाओं का प्रतिफल

39
दादा धर्माधिकारी
अहिंसक संगठन की बुनियाद : सहजीवन

43
कहानी
डॉ. आनंद यादव
नहान का त्यौहार

48
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
विनम्रता की आराधना
साझा भविष्य

शीलन

51
मुनिश्री सुखलाल
अनुशासन : देता है नव ऊर्जा, स्फूर्ति और संयमभरी रचनात्मकता

56
बालकथा
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
तीन बाल-बोध कथाएं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

इसमें कोई दोष नहीं

भीखणजी स्वामी गृहस्थ के घर से कुछ समय के लिए मांग कर लाई हुई सूई, कैंची, छूरी को एक रात या अनेक रात तक अपनी निश्रा में रखते थे।

तब अन्य संप्रदाय के साधु बोले—'साधुओं को रात्रि के समय सूई नहीं रखनी चाहिए। छूरी और कैंची भी रात्रि को नहीं रखनी चाहिए।'

तब स्वामीजी बोले—'पट्ट में लोहे की कीलें रहती हैं तथा शंख, पत्थर और दवा, चंदन आदि घिसने के पत्थर या खरल—ये सब मांग कर लाई हुई वस्तु रात को रखी जाती हैं। इसी प्रकार लोहे का हमामदस्ता आदि गृहस्थ के घर से कुछ समय के लिए मांग कर लाई हुई वस्तुएं भी रात को रखी जाती हैं। इनमें कोई दोष नहीं है तो फिर सूई, कैंची, छूरी भी गृहस्थ के घर से कुछ समय के लिए मांग कर लाई हुई यदि रात्रि को रखी जाती है, तो उसमें भी कुछ दोष नहीं है।'

घर लूट लिया और ऊपर से दंड

पीपाड़ की घटना है। स्वामीजी ने एक गाथा गाई—'अचित्त वस्तु को जो खरीदवा कर लेते हैं, उनकी समिति और गुप्ति खंडित हो जाती है। पांचों ही महाव्रत भग्न हो जाते हैं और चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ऐसा आचरण करने वाले को साधु मत मानो।

यह गाथा सुन मौजीरामजी बोरा बोले—'ओ जशु! यहां आ देख, घर तो लूट लिया और फिर ऊपर से दंड और थोप दिया। भीखणजी पांचों महाव्रतों का भंग हो गया ऐसा कहते हैं तथा ऊपर से चातुर्मासिक प्रायश्चित्त और थोपते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'पांच महाव्रत का भंग हो जाने के बाद चातुर्मासिक प्रायश्चित्त नहीं बतलाया गया है, किंतु यह बतलाया गया है कि पांच महाव्रतों का उतना भंग होता है, जितने भंग की शुद्धि के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।'—यह कह कर उन्हें समझा दिया। ●

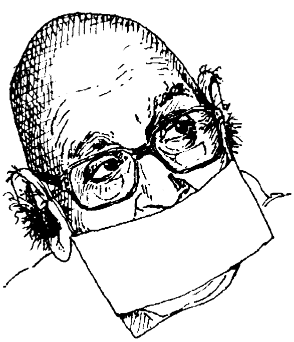

कर्म और चैतन्य के तादात्म्य का प्रयोग सतत जागरूकता का प्रयोग है। जिन लोगों ने प्रेक्षाध्यान का अभ्यास किया है, उनकी जागरूकता बढ़ जाती है। वे कर्म के साथ होने वाले दोषों से बच जाते हैं। जैसे-जैसे भावकर्म का अभ्यास होता है, वैसे-वैसे हमारा प्रस्थान अकर्म की दिशा में होने लग जाता है। अकर्म की दिशा में आगे बढ़ने से निष्कामता की ज्योति स्वयं प्रकट हो जाती है। सतत जागरूकता के बिना उस ज्योति का प्रकट होना संभव नहीं है।

कामना के दो स्रोत हैं—अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना। विषयों की स्मृति और कल्पना में कामना के बीज अंकुरित होते हैं। अतीत और भविष्य, दोनों से हट कर वर्तमान में केंद्रित होने वाला व्यक्ति अपने कर्म को 'सत्' बना सकता है—सत्कर्म अर्थात् भावकर्म। भावकर्म का अर्थ है—वर्तमान कर्म में जीने का अभ्यास। वर्तमान में नहीं रहने वाला कामना के चंगुल से मुक्त नहीं हो सकता।

शरीर से चलने वाला, खाने वाला और बोलने वाला केवल चलता है, खाता है और बोलता है। निर्मल चित्त का योग होने पर वह गतिमान नहीं होता, वह स्वयं गति बन जाता है। निर्मल चित्त से खाने वाला भोक्ता नहीं रहता, स्वयं भुक्ति बन जाता है। यह है कर्म और चैतन्य के तादात्म्य का प्रयोग।

—आचार्यश्री तुलसी

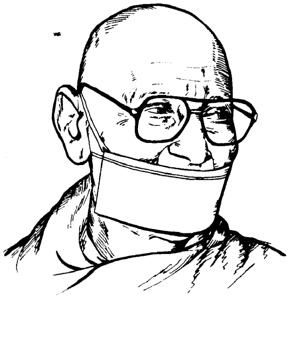

जो व्यक्ति मन को शांत करना चाहता है, विकल्पों को कम करना चाहता है—उसे सबसे पहले जीभ की स्थिरता पर ध्यान देना चाहिए। जिन लोगों ने जीभ को स्थिर करना सीख लिया, मन की चंचलता का प्रश्न उनके लिए समाप्त हो गया। जो जीभ को स्थिर करना नहीं जानते, वे चंचलता को नहीं मिटा सकते। उनके लिए मन की चंचलता का प्रश्न बना ही रहता है।

मन को शांत करने के लिए शरीर के दो अवयव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—जीभ और स्वर यंत्र। जीभ का कायोत्सर्ग और कंठ का कायोत्सर्ग—ये दो कायोत्सर्ग बहुत आवश्यक हैं। जैसे पूरे शरीर का कायोत्सर्ग होता ही है, शरीर के छोटे-से-छोटे हिस्से का भी वैसे ही कायोत्सर्ग किया जा सकता है। चित्त को शांत करने के लिए पूरे शरीर का कायोत्सर्ग लाभदायी होता है। परंतु, जीभ और स्वर यंत्र के कायोत्सर्ग से वह और अधिक अच्छा हो सकता है। जीभ और स्वर यंत्र को जितना अधिक स्थिर कर सकते हैं, उतनी ही मात्रा में विकल्प कम हो जाते हैं। यह कोरा सिद्धांत नहीं है, प्रयोग है। कंठ को, स्वर यंत्र को शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम करके देखें—कोई विकल्प नहीं आएगा। विकल्प का न आना ही अचंचलता है। यह निर्विकल्प अवस्था में जाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। 'जालंधर बंध' विकल्पशून्यता के लिए उपयोगी है। ठुड्डीको कंठकूप में लगाना, इस मुद्रा में पांच-दस मिनट रहना—स्वयं एक साधना है। इससे विकल्प शांत हो जाते हैं। जब जीभ और कंठ का कायोत्सर्ग होता है, तब तीनों गुप्तियां अपने आप सध जाती हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

सूर्य हमारी प्राणशक्ति का स्रोत है। क्या तपस्या हमारी प्राणशक्ति का स्रोतं नहीं है? जो मनुष्य कम खाता है—वह जितना स्वस्थ, संतुलित और प्रसन्न रहता है, उतना वह नहीं रहता—जो बहुत खाता है। कम खाना तप है। आचारांग में लिखा है—'भगवान महावीर रुग्ण नहीं थे, फिर भी कम खाते थे'—इस तथ्य को इस भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि भगवान कम खाते थे, इसीलिए स्वस्थ थे। उपवास को चिकित्सा पद्धति का रूप मिल चुका है। किंतु, यह केवल शारीरिक चिकित्सा पद्धति ही नहीं है, चिर अर्जित मानसिक मल भी इससे विसर्जित होता है। अतः उपवास एक तप है। महात्मा गांधी ने अस्वाद को एक व्रत माना है। जो अपनी जीभ को जीत लेता है, उसे पराजित करने की क्षमता किसी में भी नहीं होती। अस्वाद महान तप है।

हमारा शरीर बहुत चंचल है। हमारी इंद्रियां बहुत चंचल हैं। हमारा मन बहुत चंचल है। बंदर बहुत चपल होता है। उसका स्थिर-शांत बैठ जाना भी एक प्रकार की चपलता ही है। हमारी चपलता बंदर की भांति स्वाभाविक नहीं, किंतु कार्य-हेतुक है। हमारे शरीर की स्थिति सधती है, वही तपस्या है। तपस्या केवल शारीरिक ही नहीं होती, वाचिक और मानसिक भी होती है। तपस्या का भूख से अनुबंध नहीं है। हमारा मन पवित्र होता है, तो हम खाकर भी तपस्या कर सकते हैं। मन की अपवित्रता में भूखे रह कर भी तपस्या नहीं कर पाते।

वे प्राणी बहुत भाग्यशाली हैं, जिन्हें पाणि प्राप्त है। वे अधिक भाग्यशाली हैं, जिन्हें वाणी प्राप्त है। वाणी के द्वारा हम बाह्य जगत से संपर्क स्थापित करते हैं। यदि वाणी नहीं होती तो अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता। हम वाणी के द्वारा स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय का अर्थ है—एक व्यक्ति को प्राप्त सत्य या अनुभूति का हजारों-हजारों लोगों द्वारा अभिवरण। यह वाचिक तप है। प्रणालिका जल को खेत तक पहुंचा देती है। वह मात्र माध्यम है। मूल है—जल की सत्ता। कुंए में जल होता है, तो प्रणालिका उसे खेत तक पहुंचाती है। वाणी भी एक माध्यम ही है। उसका आकार मन और बुद्धि है। ध्यान मानसिक तप है। अनुप्रेक्षा बौद्धिक तप है। सूर्य से हमारी प्राणशक्ति को पोषण मिलता है। तपस्या से हमारी आत्मशक्ति को पोषण मिलता है। गीता में कहा है—'यह शरीर है, इंद्रियां शरीर से अग्रणी हैं, बुद्धि मन से अग्रणी है और आत्मा बुद्धि से अग्रणी है।'

जब कोरा शरीर तपता है, तब अहं बढ़ता है। शरीर और इंद्रियां दोनों तपते हैं—तब संयम बढ़ता है। शरीर, इंद्रियां और मन, तीनों तपते हैं—तब आत्मा का साक्षात होता है। यह वह भूमिका है जिसमें तपस्या स्वयं कृत-कृत्य हो जाती है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

प्रसंग

विनम्रता की आराधना : साझा भविष्य

यह एक दुर्लभ गुण है, लेकिन वर्तमान समय में यही टिकने वाला है। यदि कोई अहंकार-ग्रस्त है, तो उसका भविष्य अंधेरे में है—यह मान लिया जाना चाहिए। प्रख्यात लेखक, पत्रकार श्री खुशवंतसिंह गुरु नानक के माध्यम से बतलाते हैं—'अहंकार बहुत बड़ा रोग है, लेकिन यही रोग की दवा भी है।'—हमारे यहां गुणीजन कहते ही रहते हैं कि—'लोहा ही लोहे को काटता है'—और इसे सही भी माना जाता रहा है। तो, यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि अहंकार ही अहंकार जैसे रोग की दवा है। सब जानते हैं कि अहंकार-ग्रस्त व्यक्ति कहीं टिकता नहीं है और यदि वह सामाजिक प्राणी है तो यही अहंकार उसे अंततः इस रोग से मुक्त भी कर देता है।

अकसर स्वाभिमान को अहंकार के साथ जोड़ कर देख लिया जाता है और ऐसा शायद 'मूढ़मति कुतर्की' ही बढ़-चढ़ कर करते हैं। और, इसीलिए स्वाभिमान को भी दुर्भाग्य से अहंकार के रूप में रख कर देखा जाता है, पर एक विवेकशील व्यक्ति किसी कुतर्क के आगे अपने स्वाभिमान को ठेस लगते महसूस करता है तो वह आगे वार्तालाप जारी नहीं रखता और बात को विराम देने में ही भला समझता है। जबकि अहंकार-ग्रस्त कोई व्यक्ति इसे ही अपना सुयश मान बैठता है, पर हम देखते हैं कि ऐसे लोग धीरे-धीरे 'सिमट' जाते हैं और अंततः वे सर्वथा अलग-थलग पड़ जाते हैं। इस रोग की यही दवा है।

अब हम विनम्रता की बात करें। निश्चय ही यह एक दुर्लभ गुण है, पर क्या स्वाभिमान और विनम्रता साथ-साथ या एक ही नहीं है? ये एक ही हैं। फिर किसी स्वाभिमानी के लिए यह क्यों कह दिया जाता है कि उसमें विनम्रता नहीं है? पर, ऐसा शायद 'कहने की रंगत' की वजह से होता है। हम एक बात विनम्रतापूर्वक कहते हैं और वही बात तल्ख स्वर में कह देते हैं। बात वही है, अर्थ भी वही है—मात्र तेवर का फर्क है। इतने भर से मिजाज भांप लिया जाता है। यहां यह समझ लेने की जरूरत है कि किसी का स्वाभिमान तभी ऊंचा रह सकता है, जब उसमें विनम्रता भी उसी मात्रा में हो। राजस्थान में एक संगठन की ओर से लोकहित का एक कार्यक्रम चल रहा है, उसका नाम है 'दूसरा दशक' और इस कार्यक्रम का मूल स्वर है—'निर्भय मन : सिर ऊंचा।' इस स्वर की मार्मिकता में जाने की जरूरत है। अगर हम इन शब्दों के मर्म को पकड़ लें, तो विनम्रता और स्वाभिमान में कोई विलोम देख ही नहीं सकते। सही ही विनम्रता एक दुर्लभ गुण है। इसे पाने का हक हर एक का है।

इस दृष्टि से यह जरूरी हो जाता है कि यदि हम स्वयं को सामाजिक प्राणी मानते हैं तो 'विनम्रता की साधना' करें, आराधना करें। हम चाहें तो इससे सहमत हों, भले न हों, पर खुशवंतसिंह उन बहुश्रुतों में से हैं जो कई बार बड़ी मर्मभरी बातें कह डालते हैं। वे राघवन अय्यर की बात बताते हैं, जो मेधावी दार्शनिक माने गए हैं। जो आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, मद्रास यूनिवर्सिटी के 'फर्स्ट क्लास' हैं और छात्रसंघ के अध्यक्ष भी रहे हैं। खुशवंतसिंह उन अय्यर के बारे में बतलाते हैं। राघवन अय्यर के समर्थकों में से एक ने उनसे पूछा—'अय्यर! तुमने अपने जीवन में इतनी उपलब्धियां हासिल कीं, फिर भी तुम इतने विनम्र कैसे हो?'—अय्यर साब ने

जवाब दिया—'...मैंने एक 'फार्मूला' ईजाद किया है, जिसका नाम है : 'आत्म-विलोपन'। मैं हर सुबह फर्श पर ध्यान की मुद्रा में बैठ जाता हूं और मन ही मन यह दोहराने लगता हूं कि मैं वह राघवन अय्यर नहीं हूं जो मद्रास यूनिवर्सिटी से 'फर्स्ट क्लास' पास हुआ, मैं वह राघवन अय्यर नहीं हूं जो आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से भी 'फर्स्ट क्लास' रहा, मैं वह राघवन अय्यर नहीं हूं जो स्टूडेंट्स यूनियन का निर्वाचित अध्यक्ष रहा, मैं पूर्व दिशा से आया मेधावी दार्शनिक राघवन अय्यर नहीं हूं। मैं केवल 'दिव्य शक्तियों का प्रवक्ता' हूं।'—वे सायंकाल भी ध्यान करते और यही सब कहते हुए 'दिव्य शक्तियों के प्रवक्ता' के स्थान पर—'महात्माओं का माध्यम मात्र'—कहते। इस कथन से हमें गीता का यह कथन याद आ जाता है—'तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है, स्वयं को फल का हेतु मत समझ'—अहंकार मुक्त होने का यह बीजमंत्र हो सकता है।

इसी संदर्भ में तेरापंथ के वर्तमान अधिष्ठाता आचार्यश्री महाश्रमणजी की बात करें। उनको हम विनम्रता का आराधक या साधक मान सकते हैं। तेरापंथ संघ के नियंता पद पर आरूढ़ हुए उन्हें एक वर्ष भी नहीं बीता है। उनका आचार्य पदाभिषेक उत्सव जब हुआ तो ऐसी ही विनम्रता का परिचय उन्होंने दिया। फिर उसके बाद अपने व्यवहार का जो परिचय आचार्यश्री महाश्रमणजी ने दिया, उससे यह बात स्पष्ट हो गई कि 'विनम्रता की आराधना' उनके लिए 'रस्मी किस्म का पूजा-पाठ' नहीं है। यह उनके जीवन का अंग है। चार माह के अपने प्रवास के बाद की यात्रा को उन्होंने 'तीर्थ यात्रा' माना है। यह भी 'रिवाजी' नहीं लग रहा। इस यात्रा में उन्होंने न केवल अपने श्रमण-श्रमणी समाज और श्रावक-श्राविका वर्ग के प्रति उच्च व्यवहार और विनम्रता का परिचय दिया है, बल्कि जिन शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—वह लोगों के मन-मानस पर अंकित है। वे शब्द और वैसा व्यवहार न रिवाजी हैं, न रस्मी। बिना विनम्रता की आराधना के यह शायद संभव नहीं।

अपने दीक्षागुरु के प्रथम मिलन का दृश्य जिन आंखों ने देखा है, उन पर तो उन छवियों के निर्मल भाव अंकित हुए ही, जिन्होंने केवल सुना और चित्रों में देखा और जिन मनों में विनय, विनीत और विनम्रता का अंश मात्र भी मौजूद है—वे भी अवश्य पुलकित, विभोर हुए होंगे। यद्यपि यह विनम्रता दोनों ओर है। एक ओर संघ के सर्वोच्च पुरुष हैं और एक ओर दीक्षा-गुरु हैं—लगा कि जैसे अंतर मिट गया है। उन क्षणों में कबीर के पद की यह पंक्ति—'बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय'—एकदम चरितार्थ होती प्रतीत हुई। दरअसल तेरापंथ में ऐसी ही परंपरा रही है। यह लेखक अपनी आंख से इसे एक से अधिक बार देख चुका है।

ऐसी ही एक मार्मिक घटना का उल्लेख प्रासंगिक है। साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी तेरापंथ के ही प्रमुख संत मुनि मधुकरजी (अब देहातीत) के पास आती हैं। वे साध्वीप्रमुखा हैं, पर मुनि मधुकर वरिष्ठ हैं और मुनि हैं, अतः विनम्रता पूर्वक बद्धांजलि होती हैं। मुनिवर अपना ही आसन हाथ से उनकी ओर हर्षित हो सरकाते हैं। यह लेखक इस दृश्य को देखता है, विस्मित हो उठता है और भावुक शब्द फूटते हैं—'काश! यह सब समाज का हर वर्ग अपनी आंख से देख ले।'—साध्वीप्रमुखाजी संकेत समझ लेती हैं। तत्क्षण बोलती हैं—'आएंगे तो देखेंगे ही।'—सब जानते हैं कि देखेंगे तो ही सीखेंगे। बचपन इसी तरह सीख-सीख बड़ा होता है। विनम्रता की सीख क्या आज हमारा भविष्य नहीं लगता है, हमारा साझा भविष्य? यह सुनिश्चित ही है कि विनम्रता ही हमारा सुखद भविष्य हो सकता है, हमारा साझा भविष्य।

तेरापंथ ने इसे समझा है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु में वे सभी बातें हम देख सकते हैं, जिनका इस 'प्रसंग' में उल्लेख है। तेरापंथ का भविष्य इसी विनम्रता में निहित है। तभी तो हर नियंता इसका आराधक है और आचार्यश्री महाश्रमणजी भी इसी कड़ी के प्रमाण हैं। दो सौ पचास-इक्यावन वर्ष का तेरापंथ संघ विनम्रता में ही अपना साझा भविष्य देखता है। तभी तो यह 147वां साल है—इस संघ के 'मर्यादा-महोत्सव' का, जो इसी महीने में 8, 9 व 10 फरवरी को राजलदेसर (राजस्थान) में आयोज्य है। इस महोत्सव में विनम्रता के जो दर्शन दृष्टिभूत होते हैं, वह किसे अभिभूत नहीं करते? हर श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका को इसी में अपना सुखद, स्थाई भविष्य नजर आता है। यही है साझा भविष्य। विनम्रता की आराधना का यह महोत्सव जिस तरह 'तेरापंथ का साझा भविष्य' है, उसी तरह हर जन-मन का भविष्य बन सकता है।

सचमुच विनम्रता की आराधना में हर एक का सुखद, सुगम, सहज और सुरक्षित साझा भविष्य निहित है। इसे समझने की जरूरत है। इस बार आप भी राजलदेसर जाकर इसके साक्षी बन सकते हैं।

—शुभू पटवा

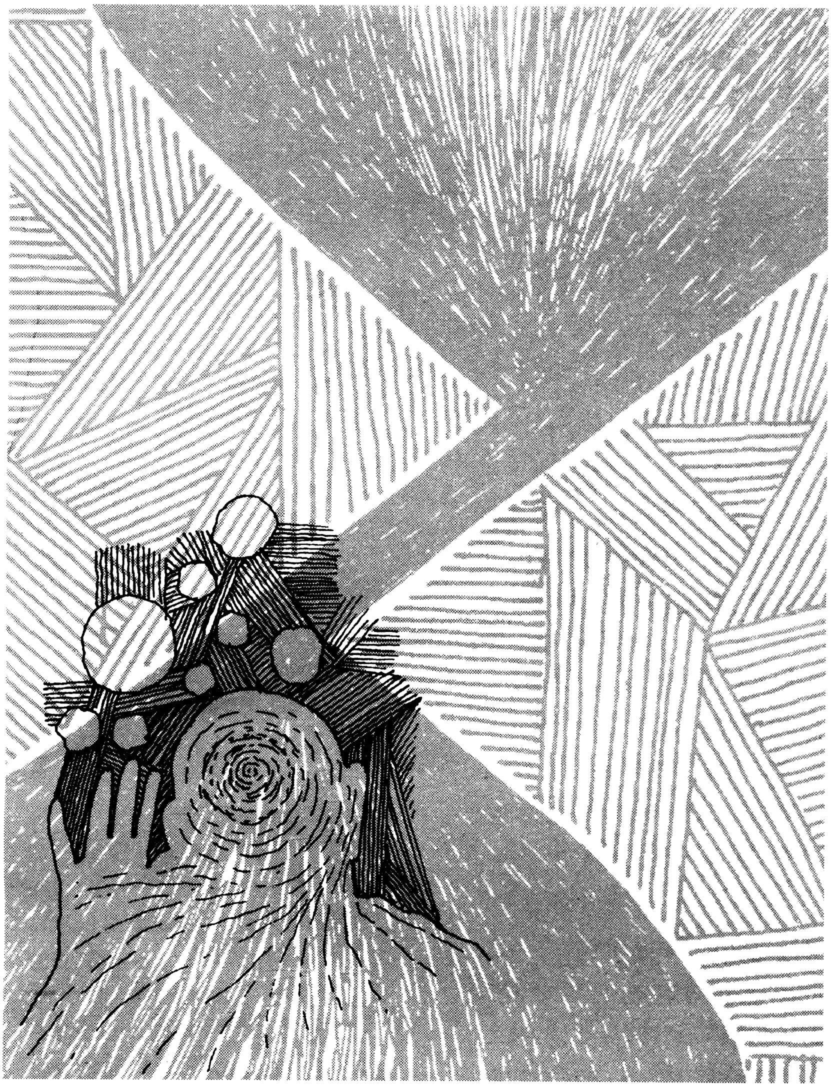

विमर्श

साधारणतः ज्ञान का विषय देश और काल में स्थित होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परंतु 'ज्ञान' तो यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है' और इस 'कहने' का काल की सतत परिवर्तनशीलता से कोई संबंध दिखाई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है कि सब-कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव की गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर, अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यंभावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'।

—प्रो. दयाकृष्ण

अर्हम् : बाहरी दुष्प्रभावों से बचने का मंत्र

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हम आनंद को भीतर से जगाएं। हम ज्ञान के आंतरिक स्रोत को प्रकट करें। हमें यह निश्चित करना है कि व्यावहारिक जीवन-यात्रा को चालू रखते हुए उस महास्रोत पर हमें चले जाना है—जो असीम है, अनंत है। इसलिए कहा गया है कि आत्मा में अनंत ज्ञान है, अनंत शक्ति है, असीम आनंद है। यह कोई रूपक या कल्पना नहीं है। यह यथार्थ है। ऐसे स्रोतों का विकास करने पर हमें असीमता की प्राप्ति हो सकती है। अतः हमें निश्चय करना है। जब तक निश्चय नहीं होता, तब तक कहीं नहीं पहुंचा जा सकता। आज आदमी अनिश्चय की स्थिति में जी रहा है। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि आनंद कहां है? सुख कहां है? ज्ञान कहां है? प्रेक्षाध्यान का एक अर्थ होता है—निश्चय पर पहुंच जाना। 'अर्हम्' हमें निश्चय पर पहुंचाता है, निश्चय पर पहुंचने के लिए हमारा सहयोग करता है। इसीलिए हम ध्यान को प्रारंभ करने से पूर्व 'अर्हम्' की ध्वनि प्रारंभ करते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में अर्हताएं होती हैं, किंतु उन अर्हताओं का हर एक को भान नहीं होता है, बोध नहीं हो पाता है। हम यह जानते ही नहीं कि हम में कितनी अर्हताएं हैं, कितनी क्षमताएं हैं, कितनी योग्यताएं हैं। विज्ञान ने यह प्रतिपादित कर दिया है कि मनुष्य में जितनी क्षमता होती है, उसका पांच-सात प्रतिशत भाग भी वह उपयोग में नहीं ला सकता। शेष सारी क्षमताएं सोई रहती हैं। यह सामान्य समझ की बात है कि आदमी अपनी सभी 'संपदाओं' का पूर्ण उपभोग नहीं कर सकता। वह जितना अर्जित करता है, उतना व्यय भी नहीं कर पाता। बहुत-सा केवल संग्रह और संचय के लिए ही होता है। वह संचय भी इसीलिए करता है कि उसका अहं पुष्ट बना रहे और उसे यह भान रहे कि उसके पास इतना था, इतना है और आगे इतना बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त उसका कोई उपयोग नहीं है।

हम भी अपनी संपूर्ण अर्हत्-संपदा का उपयोग नहीं कर पाते। एक सामान्य आदमी केवल पांच प्रतिशत अर्हताओं का उपयोग कर पाता है। एक विशेष जाग्रत आदमी सात प्रतिशत अर्हताओं का उपयोग ही कर पाता है और वह संसार में बहुत बड़े विद्वान के रूप में प्रख्यात हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी क्षमताओं का दस प्रतिशत उपयोग करने में समर्थ हो जाता है, वह तो विश्व का महानतम व्यक्ति, विश्व का महान बुद्धिमान व्यक्ति बन जाता है। जबकि उस व्यक्ति की क्षमताओं का भी नब्बे प्रतिशत भाग सोया ही रहता है।

आदमी जब जागता है तो आस-पास वालों को जगा देता है। वह चाहता है कि मैं उठ गया तो दूसरे भी उठ जाएं, मैं जाग गया, तो दूसरे भी जाग जाएं। पर, अपने भीतर कितना सोया पड़ा है, उसको जगाने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। इसमें अज्ञान भी एक कारण है। हम जानते ही नहीं कि हमारे भीतर कितनी क्षमताएं हैं। कभी-कभी आदमी संकल्प करता है, इच्छाशक्ति को प्रबल करता है और तब अघटित भी घटित हो जाता है। स्वयं उसे ही तब बहुत आश्चर्य होता है कि यह कैसे हो गया? पर, आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह

का विकास, विवेक का विकास और अनुभव का विकास। ज्ञान का उत्स है—चेतना। एक अर्थ में कंप्यूटर इतने बड़े ज्ञान का स्वामी है, पर क्या कभी उसे सुख-दुख का अनुभव होता है? क्या वह गाली देने से नाराज और प्रशंसा करने से राजी होता है? वह न नाराज होता है, न राजी होता है। उसमें नाराज होने और राजी होने के आंकड़े हैं, पर नाराज होने और राजी होने की चेतना नहीं है। वह न कभी दुखी होता और न कभी सुखी। उसमें कोई अनुभूति नहीं है। वह अनुभूति से शून्य है। उसकी सारी शक्ति, सारी निर्णायकता, सारा निश्चय हमारे ज्ञान के द्वारा आरोपित है। उसमें जितने आंकड़े डाले गए हैं, उतने ही आंकड़े निकाले जा सकते हैं या उनसे होने वाले फलित के आंकड़े निकाले जा सकते हैं।

ज्ञान वह होता है—जो डाला नहीं जाता, पर उपजाया जाता है। कुंड में पानी डाला जाता है। कुएं में पानी नहीं डाला जाता है। उसमें पानी का स्रोत होता ही है। कंप्यूटर में आंकड़ों का, ज्ञान का स्रोत नहीं है। उसमें आंकड़े डाले जाते हैं। वह कुंड के पानी के समान है, जबकि हमारे भीतर कुएं की भांति चेतना का स्रोत है। उसमें कुछ डाला नहीं जाता। मस्तिष्क में तो कुछ डाला जाता है और कुछ निकाला भी जाता है। हम मस्तिष्क को तो एक विशाल कंप्यूटर कह सकते हैं, किंतु हमारा जो ज्ञान का केंद्र है, उसमें कुछ भी डालने की जरूरत नहीं है। उसमें से स्वतः कुछ निकलता रहता है। ऐसे लोगों को देखा है, जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, परंतु पढ़े-लिखे लोग भी उनके चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करते हैं। पढ़े-लिखे लोग उन्हें पढ़ते हैं, अध्ययन करते हैं और उनके ज्ञान के प्रकाश में स्वयं के ज्ञान का विकास करते हैं। ऐसे सैकड़ों साधक हुए हैं, साधु-संन्यासी हुए हैं, जिन्होंने कुछ पढ़ा-लिखा नहीं, पर उन्हें पढ़ने के लिए, उनके ज्ञान की थाह पाने के लिए हजारों विद्वान लगे हुए हैं।

निश्चय ही शक्ति भीतर से आती है। यह कभी बाहर से नहीं आती। ध्यान से वह स्रोत फूटता है। हमारे भीतर चेतना का स्रोत है। प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति को निश्चय करना है और उसे अपने स्रोत को विकसित करना है। उसे केवल कुंड का पानी बनकर नहीं रहना है। उसे कुएं का पानी बनना है, जहां अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है।

आनंद या सुख पाने के लिए व्यक्ति भीतर में पदार्थ न डाले। विषय और पदार्थ से आनंद पाने का प्रयत्न कुंड से पानी निकालने का प्रयत्न है और डालने की सीमा है, तो निकालने की भी सीमा है। आखिर कुंड कितना बड़ा बन सकता है? कुंड कभी नदी नहीं बन सकता, कभी समुद्र नहीं बन सकता, वह कभी अखूट स्रोत नहीं बन सकता, अजस्र स्रोत नहीं बन सकता। अतः पदार्थ के द्वारा प्राप्त होने वाला आनंद असीम नहीं हो सकता। हमारे भीतर एक ऐसा स्रोत है, उसे विकसित किया जाए तो पदार्थ के बिना भी इतना आनंद प्राप्त किया जा सकता है, जितना आनंद पदार्थ से कभी संभव नहीं है। बाहर से कितना ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? उसकी भी सीमा है। पुस्तकें भी सीमित हैं। जीवन-काल भी सीमित ही है। आंकड़ों का, स्मृति का बोझ भी बढ़ता है। स्मृति भी धीरे-धीरे कमजोर होती जाती है। चिंतन पर बोझ डालने से चिंतन भी टूटता चला जाता है। तात्पर्य यह कि बाहर से ज्ञान लेने की सदा एक सीमा है।

हम आनंद को भीतर से जगाएं। हम ज्ञान के आंतरिक स्रोत को प्रकट करें। हमें यह निश्चित करना है कि व्यावहारिक जीवन-यात्रा को चालू रखते हुए उस महास्रोत पर हमें चले जाना है—जो असीम है, अनंत है। इसलिए कहा गया है कि आत्मा में अनंत ज्ञान है, अनंत शक्ति है, असीम आनंद है। यह कोई रूपक या कल्पना नहीं है। यह यथार्थ है। ऐसे स्रोतों का विकास करने पर हमें असीमता की प्राप्ति हो सकती है। अतः हमें निश्चय करना है। जब तक निश्चय नहीं होता, तब तक कहीं नहीं पहुंचा जा सकता। आज आदमी अनिश्चय की स्थिति में जी रहा है। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि आनंद कहां है? सुख कहां है? ज्ञान कहां है? प्रेक्षाध्यान का एक अर्थ होता है—निश्चय पर पहुंच जाना। 'अर्हम्' हमें निश्चय पर पहुंचाता है, निश्चय पर पहुंचने के लिए हमारा सहयोग करता है। इसीलिए हम ध्यान को प्रारंभ करने से पूर्व 'अर्हम्' की ध्वनि प्रारंभ करते हैं।

इसका भी कारण है। आदमी बाहरी शक्ति से प्रभावित रहता है। हमारी प्राणशक्ति को प्रभावित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है—ध्वनि-तरंग। भिन्न-भिन्न ध्वनियों की भिन्न-भिन्न ध्वनि-तरंगें होती हैं।

उनका प्रभाव भी एक जैसा नहीं होता। हम जितनी बार बोलते हैं, उतनी ही बार बोलने के प्रकंपन भिन्न-भिन्न होते हैं। हम यह नहीं जानते कि अक्षर कहां से बोले जा रहे हैं। संस्कृत के भाषाविदों ने प्रत्येक उच्चारण का स्थान निर्धारित किया है। हमारे शरीर में उच्चारण के भिन्न-भिन्न स्थान हैं। हम **'अर्हम्'** शब्द के उच्चारण की मीमांसा करें। **'अ'** का उच्चारण कंठ से होगा, **'र'** का उच्चारण मूर्धा से होगा, **'ह'** का उच्चारण कंठ से होगा और **'म'** का उच्चारण होंठ से होगा। हम **'र'** का उच्चारण करेंगे तब होंठ खुले रहेंगे और कंठ सक्रिय होगा। जैसे ही हम **'म'** का उच्चारण करेंगे, होंठ बंद हो जायेंगे। जैन रामायण में **'राम'** शब्द की ध्वनिगत मीमांसा करते हुए उसे आध्यात्मिक पुट दिया है—

'रा' उचरतां मुख थकी, पाप पलाई जात।
मत फिर आए तेहथी, 'ममो' किवाडी थाय।

—**'रा'** का उच्चारण करते ही मुख खुलता है और उससे सारे पाप बाहर निकल जाते हैं। परंतु, प्रश्न हुआ कि वे पाप पुनः भीतर प्रवेश कर जाएं तो? इसलिए एक व्यवस्था की गई कि **'म'** का उच्चारण करते ही होंठ बंद हो जाते हैं, मुंह बंद हो जाता है। फिर पाप भीतर नहीं घुस सकता। **'म्'** कपाट का कार्य करता है।

ध्वनिशास्त्र और उच्चारणशास्त्र के अनुसार हमारे शरीर में उच्चारण के आठ स्थान हैं—उर, कंठ, शिर, जिह्वामूल, दंत, नासिका, ओष्ठ और तालु। स्थानों के आधार पर उच्चारण में भेद पड़ता है और उच्चारण की भिन्नता से अर्थ बदल जाता है। संस्कृत में तीन प्रकार के **'सकार'** माने जाते हैं—तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य। इन तीनों के उच्चारण के तीन स्थान हैं—तालु, मूर्धा और दांत। उच्चारण के भेद से ही शब्द-भेद समझा जा सकता है। संस्कृत में दो शब्द हैं—**'सकृत्'** और **'शकृत्'**। दोनों के दो अर्थ हैं और उनमें आकाश-पाताल का अंतर है। **'सकृत्'** का अर्थ है—एक बार और **'शकृत्'** का अर्थ है—मल। इसी शब्दभेद से होने वाले अर्थभेद को ध्यान में रखकर एक पिता ने अपने पुत्र से कहा—'बेटे! कुछ पढ़ो या न पढ़ो, पर व्याकरण अवश्य पढ़ना।' उसने पूछा—'क्यों?'—पिता ने कहा—'व्याकरण के बिना **'शकल'** और **'सकल'** तथा **'शकृत्'** और **'सकृत्'** में भेद कर पाना सरल नहीं होगा। 'शकल' का अर्थ है—टुकड़ा और **सकल** का अर्थ है—पूरा, संपूर्ण।' इसी का वाचक यह श्लोक है—

यद्यपि बहुनाधीसे, तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं सकृत् शकृत।।'

विद्या के महत्त्व को समझने वाले पिता ने पुत्र को व्याकरण पढ़ने का परामर्श दिया, क्योंकि इसके बिना उच्चारण में भेद नहीं समझा जा सकता। उच्चारण के भेद के बिना अर्थ-भेद नहीं समझा जा सकता। जब उच्चारण में भेद नहीं रहता, तब अर्थ-भेद भी मिट जाता है और प्रकंपन-भेद भी मिट जाता है। उच्चारण के जितने भी स्थान हैं, उन स्थानों से अलग-अलग प्रकार के ध्वनि-प्रकंपन होते हैं। जो अक्षर होंठ से बोला जाएगा, उसका प्रभाव भिन्न होगा और जो अक्षर कंठ से बोला जाएगा, उसका प्रभाव भिन्न होगा।

प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में हम यह अभ्यास करें कि जब हम **'अ'** का उच्चारण करें, तब विद्युतकेंद्र सक्रिय बनें। यह कंठ स्थान है। यह 'थायराइड' का स्थान है। यह चयापचय के लिए उत्तरदाई है। यहां के स्राव का असर मन और शरीर पर होता है। यह चंद्रमा का स्थान है, मन का स्थान है। **'र्ह'** का प्रभाव होगा मस्तिष्क के अगले हिस्से पर, शक्तिकेंद्र पर। शरीरशास्त्र की दृष्टि से यह 'हाइपोथेलेमस' का स्थान है। यह महत्त्वपूर्ण चेतनाकेंद्र है। यह भावना का स्थान है, भावनाओं का स्रोत है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का केंद्र-बिंदु है। यह प्राचीन भाषा में हृदय का स्थान है। कहा जाता है कि हृदय-परिवर्तन करो। इसका अर्थ धड़कने वाले हृदय से नहीं है। यह हृदय तो एक मांसपेशी है, इसको क्या बदलना? बदलना उस हृदय को है—जो यथार्थ में हृदय है, मध्यवर्ती है। **'र्ह'** का उच्चारण उसे प्रभावित करता है। **'म'** के उच्चारण में होंठ प्रभावित होता है। होंठ उदान प्राण का केंद्र है। उदान एक प्राणशक्ति है। यह सिद्धि देने वाली शक्ति है। उदान जागृत होती है तो सिद्धियां प्राप्त होती हैं। मौन करने का अर्थ न बोलना ही नहीं है। मौन करने का अर्थ है—उदान-प्राणशक्ति को विकसित करना। मौन में दोनों होंठ बंद रहने चाहिए। ध्यान के समय भी दोनों होंठ बंद रहने

रूप में वैदिक धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि का प्रादुर्भाव हुआ। वेदांत, सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शन पर आधारित धार्मिक चिंतन मूलतः वैदिक धर्म के रूप में सामने आया तथा उसी वैदिक धर्म की शाखाओं के रूप में विभिन्न संप्रदाय बने।

जहां तक जैन दर्शन और जैन धर्म का संबंध है, हमें यह स्पष्ट समझना होगा कि ये पश्चिम में प्रचलित 'रिलिजन' (religion)—और 'फिलोसफि' (philosophy) नहीं हैं। फिर भी व्यवहार में जब इन शब्दों का प्रयोग करेंगे, तो इस स्पष्टता के साथ ही हमें करना होगा कि जैन दर्शन से तात्पर्य है—वह सत्यानुभूति जो कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् किसी आत्मा को होती है। वह आत्मा या 'जिन' जब अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं, तब वह व्यवहार में जैन दर्शन का रूप लेता है और उसी जैन दर्शन पर आधारित जीवन-पद्धति जैन धर्म का रूप लेती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'भारतीय चिंतन की धारा में दर्शन और धर्म, दोनों संयुक्त रहे हैं। फिर भी जिनभद्र आदि सिद्धांतवादी और सिद्धसेन दिवाकर आदि तर्कवादी परंपरा के रहे हैं।'[1]

'डिक्शनरी ऑफ फिलोसफि' (Dictionary of Philosophy) के अनुसार शाब्दिक दृष्टि से 'फिलोसफि' (philosophy) का अर्थ 'ग्रीक' में 'लव ऑफ नॉलेज' या 'विजडम' (love of knowledge or wisdom) है।

यहां यह स्पष्ट हो रहा है कि 'फिलोसफि' (philosophy) में केवल चिंतन और अवधारणाएं ही मुख्य हैं, न कि सत्य की अनुभूति—जो चेतना के भीतर स्वतःस्फूर्त होती है।

इस बात को 'ताओ ऑफ फीजिक्स' (Tao of Physics) के लेखक 'फ्रिट्जोफ कापरा' (Fritzof Capra) ने भी बहुत स्पष्ट किया है और यहां तक माना है कि प्राच्य दार्शनिकों की भांति वैज्ञानिक-जगत में भी ऐसी घटनाएं घटित हुई हैं, जिनमें किसी-किसी वैज्ञानिक को अपने भीतर ही किसी विषय की स्वतःस्फूर्त अनुभूति अचानक (एकाग्रता या ध्यान की दशा में) हो जाती है और आगे चलकर इसी प्राक्कल्पना (hypothesis) को वह प्रयोग, गणित आदि के आधार पर सिद्ध कर वैज्ञानिक सिद्धांत का रूप देता है। उदाहरणार्थ आइंस्टीन का सापेक्षता का सिद्धांत (Theory of Relativity) जिसमें दिक्काल (Space) और वक्त (Time) के संबंध में आइंस्टीन को विचार, चिंतन या तर्क के आधार पर नहीं, अपितु ध्यानावस्था में (निर्विकल्प स्थिति में) यह आंतरिक अवबोध हुआ, जिसे उन्होंने बाद में वैज्ञानिक सिद्धांत का रूप दिया। जैन दर्शन द्वारा प्रणीत सिद्धांत भी इसी श्रेणी के हैं, जिन्हें आचार्यों ने बाद में दार्शनिक युग में प्रमाण, तर्क आदि की कसौटी पर प्रस्तुत किया। जिसे आज हम जैन दर्शन के रूप में जानते हैं।

जैन आचार्यों में भी इस विषय में दो परंपराएं रही हैं—1. श्रद्धावादी, 2. हेतुवादी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'धर्म के क्षेत्र में कुछ महान साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भांति अत्यंत महान थे। उनकी महानता तक मौलिक चिंतक भी नहीं पहुंच पाते थे। फलतः चिंतकों का उनके प्रति श्रद्धानत होना स्वाभाविक था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चिंतक अपने श्रद्धेय की महान आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धानत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नहीं करते थे। सिद्धसेन जैसे चिंतक भगवान महावीर के प्रति अत्यंत श्रद्धानत थे, किंतु साथ-साथ अपने स्वतंत्र चिंतन का उपयोग भी करते थे। उन्होंने अनेक तथ्यों पर अपना स्वतंत्र मत अभिव्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियों ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया कि जो तथ्य आगम-ग्रंथों में प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धांत की स्थापना कैसे की जा सकती है? तब आचार्य सिद्धसेन ने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिंतन प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि महावीर ने दो प्रकार के तत्त्वों का प्रतिपादन किया—हेतुगम्य, अहेतुगम्य। अहेतुगम्य तत्त्व को समझने के लिए तर्क का उपयोग नहीं हो सकता। किंतु, क्या महावीर ने ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं किया जो इंद्रियगम्य हैं और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है?'

'जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वों का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वों का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय का यथार्थ

समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य, दोनों तत्त्वों को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नहीं समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नहीं है।'[2]

निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने प्रारंभ में आगम के साथ दृष्टांत को जोड़ा था। सिद्धसेन ने हेतु को भी जोड़ा।

मनु के अनुसार पुराण, मानवधर्म, अंगयुक्त वेद और आयुर्वेद—ये हेतु द्वारा परीक्षणीय नहीं हैं।[3]

बौद्ध आचार्य हेतुवाद के प्रबल समर्थक थे—

अस्ति वक्तव्यता काचित् तेनेदं न विचार्यते।
निर्दोषं कांचनं चेत् स्यात्, परीक्षाया बिभेति किम्।।
निकषच्छेदतापेभ्यः सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।।[4]

पाश्चात्य धर्म-दर्शन में भी जो कट्टरतावादी हैं, वे धर्म-ग्रंथों की आधिकारिता (authority) को तर्कातीत मानते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रायः मूल 'अथोरिटी' (authority) को मानकर ही हेतु का प्रयोग किया। जैन आचार्यों ने आगम-प्रमाण को मानते हुए भी—**युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः**—के आधार पर 'आप्त परीक्षा' के माध्यम से आगम-प्रामाण्य को स्वीकार करने की बात कही है।

इस प्रकार जैन दर्शन और जैन धर्म अथवा जैन धर्म दर्शन के अध्ययन को हम मूलतः जैन धर्म या जैन दर्शन (Jain Religion and Jain Philosophy) के रूप में नहीं, अपितु भारतीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करें।

जैन दर्शन का स्वरूप

जैन दर्शन के तीन पक्ष बनते हैं—1. विशुद्ध तत्त्व-मीमांसीय—सैद्धांतिक—(Pure Metaphysical)। 2. आध्यात्मिक (Spiritualistic)। 3. व्यावहारिक या नैतिक (Pragmatic)।

तत्त्व-मीमांसा में वस्तु-निष्ठ वास्तविकता (objective reality) के स्वरूप और भेदों पर चिंतन किया गया है। आध्यात्मिक दर्शन में (तत्त्व-मीमांसा के आधार पर) केवल आत्म-तत्त्व एवं उसकी उपलब्धि पर चिंतन हुआ है। व्यावहारिक दर्शन के अंतर्गत जीवन के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों में तत्त्व-मीमांसा के आधार पर हेय, उपादेय आदि का चिंतन एवं नैतिक मूल्यों की मीमांसा की गई। जैन आचार-मीमांसा निश्चय-नय की दृष्टि से आध्यात्मिक दर्शन और व्यवहार-नय की दृष्टि से व्यावहारिक दर्शन पर आधारित है।

जैन ज्ञान-मीमांसा एवं प्रमाण-मीमांसा या न्यायशास्त्र जैन दर्शन की वह शाखा है जो ज्ञान के स्वरूप पर मूलतः आगमिक आधारों पर और प्रमाण एवं न्याय के स्वरूप पर तार्किक आधारों पर प्रकाश डालती है।

जैन तत्त्व-मीमांसा की विशेषताएं

हम जैन तत्त्व-मीमांसा क्या है, इसकी चर्चा न कर केवल उसकी विशेषताओं की चर्चा करें तथा दर्शन-जगत की समस्याओं के समाधान में जैन तत्त्व-मीमांसा का क्या योगदान हो सकता है—उस विषय पर विचार करें। जैन तत्त्व-मीमांसा में सत्, अस्तिकाय, द्रव्य और पर्याय के स्वरूप पर विस्तार से चिंतन किया गया है। समग्र विश्व की व्याख्या इन अवधारणाओं पर आधारित है। इनमें से प्रत्येक अवधारणा का प्रतिपादन अनेकांत दृष्टिकोण से किया गया है। अनेकांत कोरा दर्शन नहीं है, वह साधना है।[5]

—'जैन धर्म जातिबद्ध या संस्थाबद्ध नहीं है, वह धर्म-चेतना है।'[6] अध्यात्म-चिंतन में केवल आत्महित सर्वोपरि है। इस दृष्टि से जो पुद्गल द्रव्य या उसके पर्याय उसमें बाधक हैं, उन्हें हेय या त्याज्य माना गया है! किंतु, जहां तक सत्ता-मीमांसा (ontology) का संबंध है, जैन तत्त्व-मीमांसा में जीव के साथ पुद्गल, आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन सभी द्रव्यों का विशद विवेचन करके यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञेय की दृष्टि से सभी तत्त्व समान हैं। इस मानी में पौद्गलिक पर्यायों के विश्लेषण में जितनी रुचि जैन तत्त्व-मीमांसा की रही है, वह किसी भी भौतिकीविद् से कम नहीं है।

जैन दार्शनिकों ने तत्त्व-मीमांसा के साथ अनेकांत दृष्टि को जोड़ा है। यह जैन दर्शन की विलक्षणता है। इस विषय को 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' में बहुत ही यौक्तिक रूप में बताया गया है—'विश्व की व्याख्या के ये दो मुख्य कोण हैं—अद्वैत और द्वैत। जो दार्शनिक

विश्व के मूलस्रोत की खोज में चले, वे चलते-चलते चेतन तत्त्व तक पहुंचे और उन्होंने चेतन तत्त्व को विश्व के मूलस्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिन दार्शनिकों को विश्व के मूलस्रोत की खोज वास्तविक लगी, उन्होंने उसके परिवर्तनों की खोज की और उन्होंने चेतन और अचेतन की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी धारा में चलता रहा और तर्क के अविरल प्रवाह से उसे विकसित करता रहा।'

'जैन दर्शन का विश्व को देखने और उसकी व्याख्या करने का दृष्टिकोण दूसरा रहा। उसने अनेकांत दृष्टि से विश्व को देखा और स्याद्वाद की भाषा में उसकी व्याख्या की। इसलिए वह न अद्वैतवादी बना और न ही द्वैतवादी। उसकी धारा स्वतंत्र रही। फिर भी उसने दोनों कोणों का स्पर्श किया। अनेकांत दृष्टि अनंत नयों की समष्टि है। उसके अनुसार कोई भी एक नय पूर्ण सत्य नहीं है और कोई भी नय असत्य नहीं है। वे सापेक्ष होकर सत्य होते हैं और निरपेक्ष होकर असत्य हो जाते हैं। जब हम संग्रहनय की दृष्टि से देखते हैं, तब संपूर्ण विश्व अस्तित्व के महास्कंध में अवस्थित होकर एक हो जाता है। इस नय की सीमा में द्वैत नहीं होता, चेतन और अचेतन का भेद भी नहीं होता। द्रव्य और गुण में शाश्वत और परिवर्तन का भेद भी नहीं होता। सर्वत्र अद्वैत ही अद्वैत। यह विश्व को देखने का एक नय है। उसे देखने के दूसरे भी नय हैं। हम व्यवहारनय से देखते हैं, तब विश्व अनेक खंडों में दिखाई देता है। इस नय की सीमा में चेतन भी है और अचेतन भी। द्रव्य भी है और गुण भी। शाश्वत भी है और परिवर्तन भी। सत्य की व्याख्या किसी एक से नहीं हो सकती। वह अनंतधर्मा है। उसकी व्याख्या अनंत नयों से ही हो सकती है। हम कुछेक नयों को ही जान पाते हैं, फलतः सत्य के कुछेक धर्मों की व्याख्या कर पाते हैं। कोई भी शास्त्र संपूर्ण सत्य की व्याख्या नहीं कर पाता और कोई भी व्यक्ति शास्त्रीय आधार पर संपूर्ण सत्य को साक्षात नहीं जान पाता।'

'यह दर्शनों का अंतर और मतवादों का भेद हमारे ज्ञान और प्रतिपादन-शक्ति की अपूर्णता के कारण ही चल रहा है। ये भेद सत्य को विभक्त किए हुए हैं। जितने दर्शन, उतने ही सत्य के रूप बन गए हैं। जैन दर्शन का अध्ययन हमें सत्य की दिशा में आगे ले जाता है और दर्शन के आकाश में छाए हुए कुहासे में देखने की क्षमता देता है। द्रव्य के अनंत धर्म हैं। कोई दर्शन किसी एक धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है, तो दूसरा दर्शन किसी दूसरे धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है। दोनों की पृष्ठभूमि में एक ही द्रव्य है, किंतु एकांगी प्रतिपादन के कारण वे विरोधी से प्रतीत होने लग जाते हैं। उनमें प्रतीत होने वाले विरोध का शमन अनेकांत दृष्टि से ही किया जा सकता है। इस अर्थ में अनेकांत दृष्टि और अहिंसा में पूर्ण अभिन्नता है। इसलिए अनेकांत को आधुनिक विचारक बौद्धिक अहिंसा कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा की व्याख्या लगभग सभी दर्शनों ने की है। जैन दर्शन ने उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न किया है, किंतु इसे हम नई दिशा का उद्घाटन नहीं कह सकते। बौद्धिक अहिंसा या अनेकांत नई दिशा का उद्घाटन है, सर्वथा नवीन और मौलिक आयाम है। यह व्यावहारिक और तात्त्विक, दोनों क्षेत्रों में आने वाली समस्याओं का समाधान है।'[7]

जैन तत्त्व-मीमांसा के संदर्भ में हमें दर्शन-जगत में प्रचलित अनेक समस्याओं पर विचार करना होगा जिससे उन्हें समाहित करने की दिशा में प्रगति की जा सकती है।

इन्हीं समस्याओं में एक उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण समस्या है—चेतन तत्त्व और अचेतन तत्त्व के परस्पर संबंध, अंतःक्रिया (interaction), प्रभाव एवं अप्रभावित रहने की क्षमता को लेकर। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसे लेकर बहुत ऊहापोह किया है। जैन दर्शन ने आत्मा और पुद्गलों (जिनमें कर्म-पुद्गल मुख्य हैं) के 'स्नेह' के परिणामस्वरूप होने वाली पारस्परिक पर्यायों को उद्घाटित किया है। भगवती सूत्र में उसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—'भंते! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?'

—'हां, बने हुए हैं।'

—'भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है कि जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और

अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?'[8]—उसके भाष्य में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने पाश्चात्य दार्शनिकों की समीक्षा करते हुए उपसंहार में लिखा है—'प्रस्तुत सूत्र में जीव को परिभोक्ता और पुद्गलों को परिभोग्य कहा है। जीव और पुद्गल में परिभोक्ता और परिभोग्य का संबंध है। जीव चेतन है, इसलिए वह परिभोक्ता है। अजीव अचेतन है, इसलिए वह परिभोग्य है। चेतन में परिभोक्तृत्व नामक पर्याय है और अचेतन में परिभोग्य नामक पर्याय है। इन पर्यायों के कारण चेतन और अचेतन में संबंध स्थापित होता है। हम खाते हैं, काम करते हैं, इंद्रिय-संवेदन करते हैं, श्वास लेते हैं, बोलते हैं और सोचते हैं—यह अचेतन का चेतन पर प्रभाव है। मस्तिष्क द्वारा संवेदन और ज्ञान हो रहा है, अचेतन शरीर चेतन बना हुआ है—यह चेतन का अचेतन पर प्रभाव है।'

'संबंध-प्रक्रिया को जानने का दार्शनिक मूल्य ही नहीं, इसका आध्यात्मिक मूल्य भी है। संबंधातीत, विचारातीत और प्रभावातीत साधना संबंध-ज्ञान के बाद ही संभव हो सकती है।'

निष्कर्षत:—'1. अनेकांत दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं, इसलिए इनमें संबंध हो सकता है। 2. इस संसार में जीव का अस्तित्व पुद्गल-मुक्त नहीं है, संसारी जीव शुद्ध नहीं यौगिक हैं। 3. चेतन और अचेतन को सर्वथा भिन्न तथा संसारी जीव को सर्वथा शुद्ध मानने पर ही संबंध की समस्या जटिल बनती है। 4. भेद-विज्ञान की साधना चेतन और अचेतन के सापेक्ष संबंध के आधार पर ही हो सकती है, आध्यात्मिक दृष्टि से इसका बहुत मूल्य है।'[9]

इस प्रकार दर्शन-जगत में विद्यमान अनेक समस्याओं पर जैन अभ्युपगम बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। विश्व की अनादि-अनंतता, कर्म की पुद्गल के रूप में अवधारणा, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ के रूप में पंच समवाय, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम के रूप में आत्मा का 'फ्री विलपावर' (free willpower), द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, पुद्गल आदि की अनुकूलता के बिना कर्म-विपाक की असंभवता आदि अनेक ऐसी अवधारणाएं हैं, जिन्हें न समझने के कारण ही दर्शन-जगत में अनेक समस्याएं विद्यमान हैं। हमें सापेक्षता और निष्पक्षता के साथ यह प्रयत्न करना होगा कि कैसे उन समस्याओं का समीक्षात्मक अध्ययन हो।

अध्यात्म-दर्शन और जैन धर्म

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है।—'जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।'[10]—'अस्तित्व की दृष्टि से आत्मा सबसे अधिक मूल्यवान है।'[11]—जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा की तरह ही अध्यात्म-दर्शन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों ने जितना ध्यान जैन प्रमाण-मीमांसा और न्याय आदि के अध्ययन-अनुसंधान पर दिया है, उतना अध्यात्म-दर्शन की जैन मीमांसा पर नहीं दिया। अध्यात्म तत्त्व-मीमांसा का वह नवनीत है जो न केवल मुमुक्षु साधक को साधना-पथ पर द्रुतगति से अग्रसर करता है, अपितु उसके व्यावहारिक जीवन को भी समस्यामुक्त करने में सहायक बनता है। इस संदर्भ में 'आयारो' में निर्दिष्ट अध्यात्म के सूत्र तथा आचार्य कुंदकुंद द्वारा 'समयसार' आदि में प्रस्तुत मीमांसा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार अन्य जैनाचार्यों द्वारा इस क्षेत्र में किए गए कार्यों पर भी ध्यान देना होगा।

श्रमण एवं समण वर्ग के लिए जैन धर्म में निरूपित दश श्रमणधर्मों के प्रथम चार—क्षांति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। शेष छह आचार पक्ष से जुड़ते हैं। इन चार धर्मों को—'**सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, अणुपालेमि**'—के सूत्र द्वारा हमें हृदयंगम करना होगा, आत्मसात करना होगा।

अध्यात्म के अनुप्रयोग (application) के लिए द्वादशानुप्रेक्षाओं में मुख्य रूप से प्रथम चार अनुप्रेक्षाएं—अनित्य, अशरण, एकत्व एवं अन्यत्व तथा व्यावहारिक जीवन की सरसता के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं के नियमित प्रयोग से ही हम अध्यात्म को जी सकते हैं। बौद्ध दर्शन में मैत्री आदि चार को 'अहोविहार' इसी अर्थ में कहा गया है। ये चार—'साइकोथेरेपी' (psychotherapy) के सबल उपचार भी हैं। श्रमणधर्मों एवं अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) के सूत्र एवं प्रयोग (अभ्यास) तथा इन्हीं के जीवन-व्यवहार में

अनुप्रयोग कैसे नियमित एवं प्रभावपूर्ण रूप से हम करें, यह चिंतन हम सबके लिए आज की अनिवार्य अपेक्षा है।

जैन धर्म को विश्व धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए भी हमें इन्हें ही उपदेश एवं प्रचार-प्रसार में अधिकाधिक काम में लेना होगा। यही वर्तमान युग में अध्यात्म की उपयोगिता है। जिसे हम बार-बार—'ई-क्यू' (EQ) और 'एस-क्यू' (SQ) के रूप में बतलाते रहते हैं। भावनात्मक एवं आध्यात्मिक विकास भी इन्हीं के माध्यम से हम प्राप्त कर सकेंगे।

अध्यात्म-दर्शन और जैन धर्म के संदर्भ में हमें 'सम्यक्दर्शन' की आराधना पर भी ध्यान केंद्रित करना होगा। इस सचाई को हम स्वीकार करें कि हमारा जितना ध्यान आचार, व्रत, उपासना एवं अनुष्ठान (Rituals) पर है, उतना 'सम्यक्दर्शन' की आराधना पर नहीं है।— **'समकित बिन चारित्रनी किरिया रे बार अनंत करी, पिण काज न सरिया रे'**—जयाचार्यश्री (आचार्यश्री जीतमलजी) की यह उक्ति हमें प्रेरित कर रही है कि हम सम्यक्दर्शन को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने की ओर ध्यान दें। सम्यक्त्व के दूषण, भूषण एवं लक्षणों की गहन जानकारी करें और तदनुरूप साधना करें।

इस प्रकार, मूलतः अनेकांत दृष्टिकोण और सम्यक्दर्शन—अध्यात्म के इन दो अंगों के सम्यक् संयोजन से ही हम जीवन व्यवहार को आदर्श रूप दे सकेंगे। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के आध्यात्मिक एवं ध्यान-योग साहित्य की आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुति की जानी चाहिए।

जैन धर्म : एक जीवन पद्धति

जैन तत्त्व-मीमांसा से अनुस्यूत अध्यात्म-दर्शन और व्यावहारिक दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठापित संपूर्ण जीवन-पद्धति का नाम है—जैन धर्म। इसमें जैन अध्यात्मवाद, जैन आचार-मीमांसा (श्रमणाचार, श्रावकाचार), जैन जीवन शैली, धर्मसंघीय व्यवस्था (चतुर्विध तीर्थ), जैन साधना-पद्धति (योग, ध्यान, प्रतिमा, जप, तप आदि), जैन परंपरागत व्यवहार आदि का समावेश स्वतः ही हो जाता है। इसे 'जैन धर्म' (Jain Religion) कहने की अपेक्षा 'जैनिज्म' (Jainism) कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

जैन धर्म को भी एक विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म के रूप में हमें प्रस्तुत करना होगा। यदि वर्तमानयुगीन भौतिकवाद की आंधी एवं उससे उत्पन्न भयानक वैश्विक समस्याओं का सचोट समाधान मानव-जाति के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं, तो हमें आध्यात्मिक दर्शन की उपेक्षा से उपरत होकर जैन धर्म की प्रस्तुति उसी आधार पर करनी होगी। जैन धर्म की उदारवादिता को भी हम तभी आकर्षक ढंग से विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर पाएंगे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'जैन धर्म जातिबद्ध या संस्थाबद्ध नहीं है। यह धर्म-चेतना है। जैन दर्शन ने किसी भी जाति, संप्रदाय या वेशभूषा में रहने वाले व्यक्ति को मुक्ति का अधिकारी घोषित किया है—यदि उसकी धर्म-चेतना जागृत हो गई हो, राग-द्वेष सर्वथा क्षीण हो गया हो। धर्म-चेतना को संप्रदाय मुक्त मानने वाला धर्म आध्यात्मिक धर्म होता है। सत्य को जानने के लिए अनेकांतदृष्टि और उसे पाने के लिए आध्यात्मिक धर्म जैन दर्शन की ये मौलिक उपलब्धियां हैं।'[12]

जैन धर्म-दर्शन को लेकर यह एक संक्षिप्त विवेचना है। अलबत्ता इसके गहन अध्ययन की आवश्यकता है। यह अच्छा सुयोग है कि वर्तमान समय में इसके अध्येताओं के लिए जैन धर्म-दर्शन पर विभिन्न मीमांसाएं उपलब्ध हैं जो अध्येताओं के लिए सहायभूत हो सकती हैं। ❖

संदर्भ

1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 6
2. वही, पृ. 85-86
3. वही, पृ. 86
4. वही. पृ. 86
5. वही, पृ. 7
6. वही, पृ. 8
7. वही, पृ. 5, 6
8. भगवती भाष्य, पृ. 138
9. भगवती भाष्य, पृ. 140
10. आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।
    —बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/6
11. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 105
12. वही, पृ. 8

❖❖

दो अंकों में समाप्य आलेख की आखिरी कड़ी

सभ्यता और संस्कृति : कालगत अजस्र प्रवाह

डॉ. राजानंद

सत्यं, शिवं, सुंदरं ये मात्र शब्द या अक्षर नहीं हैं, मूल्य हैं। यह तो हो सकता है कि एक युग का सत्य दूसरे युग में बदल जाए, पर अपने युग में उसकी महत्ता निर्विवाद रहती है और यह भी तो है कि हर युग का अपना एक सत्य भी होगा ही। इस दृष्टि से सत्य 'अक्षर' भी है और वह परिवर्तनशील भी। इसी प्रकार शिवं (शुभ) भी तथा सुंदरं भी गतिशील (परिवर्तनशील) रहकर अपनी आस्तित्विक अक्षरता बनाए रखते हैं। मनुष्य की प्रज्ञा, शिवं को अपनाने की उसकी दक्षता उसके सौंदर्य (सुंदरं) को निखारती है। यही चित्त की सुंदरता है। यह गुणात्मक होती है। मनुष्य के साथ ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, शिव-अशिव, सुंदर-असुंदर, विस्तार-संकुचन तथा उत्क्रमण - अवतरण (नीचे गिरने) का द्वंद्व चलता रहता है। वही चयनकर्ता होता है, वही अनुकरणकर्ता। यानी उसकी अंतर-यात्रा का फलागम जीवन की कर्मयात्रा होती है।

मनु ने कहा :

यत्र धर्मोह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतस्तत्र सभासदः।।

जिस सभा में उसके सदस्यों के देखते हुए भी अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य की हत्या की जाती है, उस सभा के सभी सदस्य (सभासद) मृत के समान हैं। हमारे यहां वृद्धता को अनुभवी एवं विद्वान होने की विशेषता माना गया है। सभा अथवा संसद, आस्तान या परिषद में ऐसे ही मेधाशील वृद्धों की अपेक्षा की गई है—**न सा सभा यत्र न संति वृद्धा न ते वृद्धा, ये न वदंति धर्मम्**—सभा वही है, जिसमें अनुभवी व विद्वान वृद्ध हों। उनकी वृद्धता भी तभी सार्थक है—जब वे सभा के अंतर्गत धर्म अर्थात् सदाचार व न्याय की बात कहें।

हम पाते हैं कि वैदिक साहित्य (जिसका अक्षुण्ण प्रभाव बाद के साहित्य में प्राप्त होता है) में सभ्यता के अंतर्गत भौतिक जीवन का निर्देशक तत्त्व धर्म, मर्यादा, सद्-आचरण रहा है। दैनिक जीवन में यज्ञ की प्रमुखता रही तो अतिथि को देवतातुल्य माना गया तथा आजीविका के लिए अर्जित धन को दान से जोड़ा गया। कर्तव्य, विनम्रता, प्रेम, त्याग गृहस्थ जीवन के आधार ही नहीं माने गए, वरन व्यक्ति द्वारा इनका व्यवहार भी समाज में धर्म माना गया। धर्म—जिसे आचरण में धारण किया जाए तथा ये सद्गुण चरित्र की विशेषता बने।

आर्यों के भोजन में करंभ (जौ या चावल भूनकर, पीस कर दही के साथ), पुरोडाश (चावल को पीसकर यज्ञ की आहुतियों में प्रयुक्त सामग्री का शेष अंश), धनावंत (धान से बना), अपूप (मालपुए का प्रकार), पकाई हुई रोटी, ओदनभात तथा गवाक्षीर, ब्रीह (चावल), यव (जौ), मुद्ग (मूंग), खल्व (चना), श्यामक (सावां), गोधूम (गेहूं, मसूर) आदि। फलों में कर्कंध (सुगंधित फल उन्नाव), उर्वारुक

(खरबूजा) तथा बदर (बेर) सम्मिलित किए गए। दूध, मट्ठा, शहद, इक्ष व सोमरस भी इनमें सम्मिलित हैं।

भोजन की यह विशेषता रहनी चाहिए कि वह बलवर्धक, जीवनवर्धक, तेजोदायक व पौष्टिक हो।

जाति के आधार पर भी भोजन का वर्गीकरण मिलता है। जैसे—ब्राह्मण को शुद्ध-सात्त्विक आहार करना चाहिए। क्षत्रीय सत्त्व मिश्रित रजोगुणी आहार कर सकता है, लेकिन शूद्र को तमोगुणी आहार की स्वीकृति थी। शरीर की शक्ति को 'स्वधा' कहा गया है।

कृषि

वैदिक सभ्यता में कृषि तथा पशुपालन विशिष्ट आजीविका तथा घरेलू कार्य था। इसमें लगभग सभी जातियों का योगदान रहता रहा है। लोग स्वयं कृषि कार्य करते थे, जबकि संपन्न वर्ग कृषि कार्य करवाते थे। भोजन में जिन अन्नों का वर्णन किया गया है, उनकी खेती मुख्यतः की जाती थी।

भूमि को पर्जन्य की पत्नी कहा गया है—**'भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै'**। भूमि माता है, पर्जन्य पिता है। दोनों से संतान की कामनापूर्ति की प्रार्थना की गई है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या
पर्जन्यः पिता स उनः पिपर्तु।।

कृषि कर्म को यज्ञ कहा गया है। कहा गया है—'विद्वानो! इस यज्ञ को करो। हलफालों को संयुक्त करो। जुओं को फैलाओ। तैयार किए गए खेत में बीज बोओ, जिससे भरपूर अन्न पैदा हो। तुम्हारे सृणि (हंयुये) खेत को काटें।' *(वैदिक संस्कृति, डॉ. मुंशीराम शर्मा)*

खेती की संपन्नता ऋतुओं पर निर्भर करती रही है। अतः सामवेद में ऋतुओं को संबोधित किया गया है—

बसंत इन्नु रंत्यो, ग्रिष्म इन्नु रंत्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमंतः शिशिर इन्नु रंत्यः।।

(सामवेद, 616)

—बंसत हमारे लिए रमणीय हो, ग्रीष्म हमारे लिए रमणीय हो, वर्षा के पश्चात् शरद, हेमंत तथा शिशिर रमणीय हों। नदियों, कूप, बावड़ी और पर्वतीय जल सिंचाई में प्रयोग होता था। घरेलू पशुओं में अश्व, गौ, बकरी तथा भेड़ के नाम ऋग्वेद में मिलते हैं। वृषभ तथा अश्व रथ में जोते जाते रहे हैं।

शाला

वेदकालीन सभ्यता में पाठशाला का बहुत महत्त्व रहा है। शाला में होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, कक्षा के कक्ष, अग्निशाला, पत्नी-सदन, अंतःपुर तथा देवसद पुरुषों, विद्वानों और अतिथियों के लिए आतिथ्यालय, सभा-भवन रहते थे। शाला धन-धान्य से संपन्न रहती थी। दुधारू गाय तथा अन्य पशुओं के रहने का स्थान सुनिश्चित होता था। देखा जाता था कि शाला का वातावरण सुखदायक व उत्साहवर्धक रहना चाहिए।

शाला द्विपक्षा (मध्य में एक, पूर्व-पश्चिम में एक-एक शाला और), चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टपक्षा, दशपक्षा होती थीं। पूर्व अथवा पश्चिममुखी शाला शुभ मानी जाती थी। शाला का निर्माण 'वास्तोष्पति' करता था।

इस काल में पत्ते के दोने से लेकर काष्ठ तथा धातु के बने बर्तन प्रयुक्त होने लगे थे। घर-गृहस्थी में उलूखल, मूसल, सूप, चलनी आदि का वर्णन भी मिलता है।

वस्त्रों में आशसन (धारीदार वस्त्र), विशसन (सिर का वस्त्र) तथा अधिविकर्तन (सारे देह का वस्त्र) का वर्णन मिलता है। तब वस्त्र सूत के, ऊन के और चर्म के प्रयोग होते रहे हैं। अस्त्र तथा कवच आदि धातुओं के बनते थे। स्त्रियां सुकपदी, सुकरीरा, स्वोपशा होती थीं। उनमें आभूषण पहनने की रुचि थी।

आजीविका तथा व्यापार

स्थल, जल तथा वायु के सैनिक, किराने के व्यापारी, कपड़े बेचने वाले, लोहे के व्यापारी, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, तेली आदि अपना धंधा करते थे। यह व्यापार ईरान, काबुल, मिश्र, यवन तथा रोमन देशों से होता था।

व्यापार में भी सत्य का नैतिक आग्रह बताया गया है—**'सत्यं स्तवाम, न अनृतम'**—जो व्यापारी सत्य का व्यवहार नहीं करता, उसकी साख नहीं रहती। साथ ही चाहे राजा हो अथवा व्यापारी, उसे दान देना चाहिए—**उच्चा दिवि दक्षिणावंतो**—यह परंपरा बहुप्रचलित थी।

युद्ध कला

इंद्र के माध्यम से अनेकों युद्धों का वर्णन वेदों में

मिलता है। साम, दाम, दंड, भेद—इन चारों युक्तियों के प्रयोग करने का वर्णन है। इंद्र को लेकर विद्वानों में अलग-अलग मत मिलते हैं। कुछ विद्वान इंद्र को देवों के राजा के रूप में मानते हैं। ऐतिहासिकता की दृष्टि से आचार्य चतुरसेन ने अत्रि ऋषि का निवास अजरबेजान तथा मक्का में शुक्राचार्य का मंदिर होने से वह शुक्र का निवास बताते हैं। ईरान में लक्ष्मी का जन्म स्थान बताते हैं। यह भी बताया जाता है कि असुरों ने प्रथम शकद्वीप में राज्य बसाए, फिर इस्तरवर में। इस्तरवर प्रह्लाद की राजधानी थी। अजरबेजान में कुबेर का निवासस्थान भी मानते हैं। ईरान के जाटा प्रदेश में शिव स्थान मानते हैं और जिप्सी जाति को इन्हीं का वंश मानते हैं। वरुणपुरी सुषा जो इंद्रपुरी या 'स्वर्ग' कहलाती थी, नामशेष रह गई। चतुरसेन शास्त्री आगे लिखते हैं—'वास्तव में सू सुषा के सुर थे और 'असी' सुरों के विमात्र भाई। असूरियावासी असुर थे, जिनकी पूर्व संज्ञा दैत्य और आदित्य थी। सुरों ने विष्णु को प्रधान देव माना, परंतु असुरों ने शिव को।'—वेदों और पुराणों का काल अभी निश्चित नहीं है और यह भी कहा जाता है कि वेदों का सृजन दीर्घकाल में अन्य-अन्य ऋषियों द्वारा वृद्धि पाता रहा, इसलिए इनमें कई सभ्यताओं की झलक मिलती है। वेदों में पहले वाचिक परंपरा थी, बहुत बाद में इनका लिपिबद्ध संपादन व्यास के जरिए अपने शिष्यों द्वारा करवाया गया। इनको अपौरुषेय भी मान्म जाता रहा है।

इस दीर्घकाल तथा काव्याभिव्यक्ति के कारण अंतर्साक्ष्यों में युद्ध-सामग्री तथा युद्ध में उपयोग होने वाले अस्त्रों-शस्त्रों की किस्मों में भी विविधता है। हो सकता है कि मंत्रों द्वारा चलने वाले अस्त्रों पर हमारा विश्वास नहीं जमे, लेकिन जिस तरह गुरुओं द्वारा शालाओं में सैन्यशिक्षा दी जाती थी, उसका आधार पूर्णतया आध्यात्मिक था। हमें यह जान लेना चाहिए कि आध्यात्मिकता का परिणाम आत्मसंयम, आत्मशक्ति, संकल्पात्मक एकाग्रता होती है, जिसमें व्यक्तित्व अपनी संपूर्णता में कार्यतत्पर होता है। युद्ध भी साधना तथा आत्मशक्ति से ही जीता जाता है। युद्ध को हमारे यहां 'धर्मयुद्ध' की संज्ञा दी गई है। लेकिन, युद्धपिपासा अथवा विजय के अतिरेक में महत्त्वाकांक्षा की निंदा की गई है—**'माय इत सा ते यानि दिन युद्धानि आहुः'**—युद्ध भी माया ही है, यह असत के विरोध में किया जाना चाहिए, अन्यथा नहीं। आचार्य चतुरसेन की पुस्तक 'वैदिक संस्कृति दृग स्पर्श' से ऋग्वेद काल की सभ्यता के कुछ उदाहरण भी हमें देखने चाहिए—

● ऋग्वेद के मध्यकाल में आर्यों का विस्तार सिंधु या सरस्वती नदी तक हो चुका था। ● नगर नहीं थे, नागरिक नहीं थे, किंतु सभ्यता की उच्च सीमा उनके रहन-सहन में पहुंच गई थी। ● कुटुंबों की प्रथा प्रचलित थी। कुटुंब का पिता मुखिया होता था। ● अपनी विजय का यश ऋचाओं में प्रस्तुत करते थे। ● आर्यों में जातिभेद नहीं थे, पर आर्य तथा आदिवासियों में भेद था। ● कुछ बीघे जमीन का मालिक शांति के समय कृषि व पशुपालन का कार्य करता था और युद्ध के समय प्राणों की रक्षा। बाद में राजा तथा यज्ञ के लिए पुरोहित होने लगे, लेकिन दोनों की कोई जाति नहीं थी। ● व्यवसाय और शिल्प के विकास के साथ घर, गांव, नगर, सड़क अस्तित्व में आए। नावों द्वारा व्यापार तथा कपड़े बुनना व रोम, चर्म और ऊन का काम होने लगा था और रंगने की विद्या जानते थे। ● हड्डी, लकड़ी, पत्थर, धातु के तीर-धनुष, तलवार, भाले बनने लगे थे। धातुओं में रजत (चांदी), हिरण्य (सोना), अयस (लोहा) अधिक प्रयोग में आता था। ● प्रज्ञापति या विस्पत्ति उनका राजा होता था। प्रजा शब्द संतान के लिए प्रयुक्त होता था, जबकि जनसाधारण के लिए 'चर्वन' शब्द काम में लेते थे। ● कृषि के लिए 'शुन' और 'सीद' से प्रार्थना—'जो मेह आपने द्योलोक में उत्पन्न किया है, उससे पृथ्वी को सींचिए'—की जाती थी। ● स्त्री-पुरुष केश रखते थे। 'शतदती' और 'कंकतिका' औषधियों से केश बढ़ाए जाते थे। ● रथक्रीड़ा, द्यूतक्रीड़ा, नृत्य मनोरंजन था। 'नर्त' में स्त्रियां शृंगार करके भाग लेती थीं। वाद्यों में दुंदुभी, बाण वाद्य व वीणा प्रमुख थे। ● 'मांसाहार' का प्रकरण भी मिलता है।

वैदिक देवता

इंद्र, अग्नि, वायु, मरुत, अश्विनी, विश्वदेवस, वृहस्पति (ब्रह्मणस्पति—मंत्रों के देवता), ऋभृ (अंगिरस सुधन्वा के पुत्र), वरुण, पूषन (आदित्य में एक), रुद्र (औषधि और मंत्रों के स्वामी), उषस (आकाश की पुत्री ज्योतिपर्ण), सूर्य, सोम (चंद्रमा—परम बुद्धिमान, धनदाता, औषधियों का स्वामी), सोमरस (पत्थर से पीस कर तथा ऊनी छन्ने में छानकर और मट्ठे में मिलाकर पीया जाने वाला पेय), विष्णु (द्युस के पुत्र)।

इनके अतिरिक्त रति, सविता, भग, मातरिश्वा, तृत, ऋतु, अर्ययान का उल्लेख भी मिलता है।

मुख्य ऋषि

विश्वामित्र, कण्व, अंगीरस, गौतम, वशिष्ठ, पराशर, कश्यप, उशिज, दीर्घतमा, अगस्त *(वैदिक संस्कृति दृग स्पर्श—आचार्य चतुरसेन : संस्करण-1983)* मुख्य ऋषि माने जाते थे।

अध्ययन तथा वर्णन में हमने अभी तक दो बिंदुओं पर विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहा है—(1) किसी भी काल की मानवीय कोशिशों को हमें अपने समय या किसी भी विकसित काल के मानक से तुलना करके सभ्यता अथवा संस्कृति का अंकन नहीं करना चाहिए। मानवीय प्रयासों ने अपने विवेक तथा अंतःकरण की आध्यात्मिक एवं सृजनात्मक क्षमताओं का उपयोग, जीवनशैली तथा आत्म आग्रहों का संपूर्णता से प्रयोग किया है। चाहे अग्नि की जानकारी के साथ भोजन पकाना हो, गुफाओं में चित्रकारी हो अथवा कृषि व धातु युग में हथियार बनाना, सूत से कपड़े बुनना या फिर नगर बसाना और प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी प्रार्थना में ऋचाएं रचना। (2) दूसरा बिंदु कि सभ्यता तथा संस्कृति का प्रवाह अक्षुण्ण रहा है। सभ्यता लुप्त होते-होते अपना अंश उप-जातियों में स्थानांतरित करती है, क्योंकि इसका अस्तित्व भौतिक तथा सुरक्षा एवं सुविधाओं के विस्तार से रहता है। इसलिए वह प्राकृतिक तथा भू-गर्भीय परिवर्तन के साथ भग्न तथा नष्ट भी हो जाता है, लेकिन संस्कृति अंतःकरण तथा चिंतन पक्ष से संबंधित होती है, अतः यह अपेक्षतया (सूक्ष्म होने कारण) अधिक प्रभावक रूप में स्थानांतरित हो जाती है और क्योंकि यह सृजनात्मक (कल्पनासंपन्न) भी है, इसलिए नव्यता भी आविष्कृत करती है।

अगर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो सभ्यता तथा संस्कृतियों को दो ही तत्त्व प्रभावित करते हैं—या तो ब्रह्मांडिक परिवर्तनशीलता (गतिशीलता भी) या फिर मनुष्य की खुद की सत्ताप्रियता और परस्पर की संघर्षशीलता। संतुलन में जब भी असंतुलन आता है, तभी नया सामंजस्य अपनी स्थिति पाने की अंतःक्रिया करता है। शारीरिक जीवन को अनिवार्यतः दासत्व में रहना होता है। वस्तुतः स्वतंत्र होती है—चेतना, चिंतन तथा कल्पनाक्षमता।

जहां तक सभ्यता (भारतीय सभ्यता) की निरंतरता का प्रश्न है, इसे इतिहास के काल एवं युगानुसार जाना जा सकता है। इस विचार की भी स्पष्ट पुष्टि मिलेगी कि बाहरी जातियों, उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का असर यहां की जीवनशैली पर परस्परता का पड़ा है। यहां के लोगों की सभ्यता ने तथा आने वाले विदेशी लोगों की सभ्यता ने अपनी बुनियादी स्वायत्तता को कायम रखते हुए नव्यता को स्वीकार किया। संस्कृतियों ने भी इस तरह के बदलाव को स्वीकार किया, लेकिन धर्म की भिन्नता के कारण उनका बुनियादी स्वरूप बना रहा।

हम प्रश्न कर सकते हैं—धर्म में ऐसी क्या जड़ता होती है जो समानधर्मिता को नहीं अपना पाती?

उसका मूल कारण है—आस्था, श्रद्धा व विश्वास और इनके साथ जुड़ी है—आचरण व्यवस्था। यह आचरण व्यवस्था (जिसे दुराग्रही स्वभाव का होने के कारण सांप्रदायिकता कहा जा रहा है) इस कदर का स्वभाव बन जाती है कि इस में व्यक्ति जरा-सा भी बदलाव स्वीकार करना नहीं चाहता। मंदिर, गिरजाघर, मस्जिद अथवा किसी उपासना स्थल पर जाना आसान है। थोड़े-से क्षणों के लिए एकाग्रता के वशीभूत होना आसान भी है, लेकिन धर्मों की मूल आत्मा तथा उसकी विशिष्ट अवधारणाओं को चरित्र तथा जीवनदृष्टि बना पाना संयमसाध्य है। जागतिक जीवन की उलझनें (द्वंद्व) इसमें बाधा बनते हैं।

डॉक्टर राधाकृष्णन ने 'भारतीय संस्कृति : कुछ विचार' के आमुख में लिखा है—'मानव-मन में सभ्य और विकसित के साथ ही आदिम, पुरातन एवं शिशु भी उपस्थित रहता है। हमारे अंदर जो जड़ता और बुराई है, उसके विरुद्ध हमें संघर्ष जारी रखना होगा। हमारे समस्त शत्रु हमारे अंदर है।' वे लिखते हैं—'लालसा से शांति तक पहुंचने का मार्ग आत्मविजय है।'

वैदिक साहित्य—खासतौर से वेद एवं उपनिषद्, हमारे दर्शन, चिंतन तथा व्यावहारिक जीवन के मूल स्रोत हैं। जितने भी दर्शन व धर्म तथा धार्मिक रीति व संस्कार हमें 'कोष' रूप में मिले हैं, वे या तो वेदांत की स्वीकृति तथा उससे परिवर्द्धन के रूप में मिले हैं या उसकी प्रतिक्रिया में। इसलिए हमें वैदिक संस्कृति की कुछ मूल

व्यवस्थाओं को वर्तमान संदर्भ में उनके औचित्य के साथ भी जानना चाहिए।

ऋतपथ

प्रजापति की अवधारणा में सर्वोच्च व्यक्ति का बिंब है, जिसकी संतान के समान प्रजा (समाज) होती है। प्रजा के दो विभाग माने गए हैं : (1) विश्वाभुव, (2) विश्वानर। विश्वाभुव के दो उपभाग—(1) द्यावा एवं (2) पृथ्वी। इसी तरह विश्वानर के भी दो उपभाग—(1) देव (2) मानव।

पृथ्वी पर रहने वाले द्यो (प्रकाश) की अपेक्षा रखते हैं। द्यो के बिना पृथ्वी व इसके जीव-अजीव अंधकार में भटकते रहते हैं। मानव से श्रेष्ठ देवत्व को माना गया है और मानव अपने स्वरूप में मिश्रित है। उसमें ऐसी प्रवृत्तियां भी हैं जो उसे निम्न बना सकती हैं, लेकिन मनुष्य देवत्व को पाना चाहता है। उसमें जन्मजात आकांक्षा होती है—जैसा है, उससे ऊपर उठने की, उत्क्रमण करने की, ऊर्ध्वारोहण की। हमारा उच्चतम ध्येय होना चाहिए अपने देवत्व को पहचानने और उससे एकात्म होने का।

ऐसा होना तभी संभव है, जब हम सात्विकता को पा सकें। सत्त्व, रजस तथा तमस—हमारे यहां तीन गुण माने गए हैं; जो हर मनुष्य में होते हैं। सत्त्व की प्रधानता शांति तथा सद्भावनापूर्ण बनाती है। रजस में गति है, त्वरा है, पर चंचलता भी है। अतः सांसारिक फंसाव व अतृप्ति की अगाधता भी है। तम की प्रधानता आलस्य तथा निष्क्रियता व अज्ञान की प्रतीक है। तुरत भावना के आवेश में आ जाना, परिणाम की बिना परवाह किए कुछ कर बैठना—यह पशुवत व्यवहार माना गया है।

मनुष्य को अपने देवत्व तक पहुंचने के लिए इंद्रियों की अनियंत्रित मांग की दासता से अपने को मुक्त करना पड़ता है। मुक्ति पाना ही उसकी स्वतंत्रता है। विकल्पों में चयन करने की योग्यता ही स्वतंत्रता का मकसद है। चयन के बाद ही निष्ठा तथा संकल्प बनता है। चयन की श्रेष्ठता देवत्व की तरफ उत्क्रमण कराती है। देवत्व का अभिप्राय है—'जैसे है' उससे आगे 'होना'। इसी में नैतिकता (व्यावहारिकता) व उच्चता की मूल्यवत्ता (आध्यात्मिकता) विकसित होती है। 'मैं भाव' तथा 'कर्ता भाव' का अन्य के साथ 'अनन्य' हो जाना ही अपने वास्तविक स्वभाव का साक्षात्कार करना है।

सत्यं, शिवं, सुंदरं

सत्यं, शिवं, सुंदरं ये मात्र शब्द या अक्षर नहीं हैं, मूल्य हैं। यह तो हो सकता है कि एक युग का सत्य दूसरे युग में बदल जाए, पर अपने युग में उसकी महत्ता निर्विवाद रहती है और यह भी तो है कि हर युग का अपना एक सत्य भी होगा ही। इस दृष्टि से सत्य 'अक्षर' भी है और वह परिवर्तनशील भी। इसी प्रकार शिवं (शुभ) भी तथा सुंदरं भी गतिशील (परिवर्तनशील) रहकर अपनी आस्तित्विक अक्षरता बनाए रखते हैं। मनुष्य की प्रज्ञा, शिवं को अपनाने की उसकी दक्षता उसके सौंदर्य (सुंदरं) को निखारती है। यही चित्त की सुंदरता है। यह गुणात्मक होती है। मनुष्य के साथ ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, शिव-अशिव, सुंदर-असुंदर, विस्तार-संकुचन तथा उत्क्रमण-अवतरण (नीचे गिरने) का द्वंद्व चलता रहता है। वही चयनकर्ता होता है, वही अनुकरणकर्ता। यानी उसकी अंतर-यात्रा का फलागम जीवन की कर्मयात्रा होती है।

मानव व्यक्तित्व

डॉक्टर मुंशीराम शर्मा ने 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता' नामक अपनी पुस्तक में मानवीय व्यक्तित्व की संरचना, उसके आंगिक (अवयवी) भागों के महत्त्व पर अच्छा चिंतन प्रस्तुत किया है। साररूप में उसे यहां प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

उनका विचार है कि संबंध की दृष्टि से व्यक्ति के 'मैं' का उसके 'स्व' से संबंध हो सकता है। उसक 'तुम' से संबंध हो सकता है, जो उससे 'दूसरा' है और जो यह संसार भी हो सकता है। तीसरा संबंध अन्य (अ+न्य=नेय यानी आने योग्य) से हो सकता है। यह दूर है, उसे आना है या कह सकते है कि उसे पाना है। हो सकता है वह 'परम' हो, सर्वात्मा—सारे अभावों से परे। उस 'परम पुरुष' का अंश 'मैं' में भी है। उसे पाना है। वह 'चैतन्य' कदाचित हमारे अचेत के भी नीचे हमारे ही कारण हो गया है। उसे हमें चेतना के स्तर पर लाना है, ताकि वह हमारा निर्देशक (गाइड) बने। वह हमें इतना स्वाभाविक बना दे कि हमारा व्यक्तित्व उसके समान हो जाए। तब हमारी दूसरी यात्रा (आध्यात्मिक

यात्रा) प्रारंभ हो सकती है। जिस अंशी (परम पुरुष) का अंश हमारा वह चैतन्य है, वह अंशी को अपने निकट लाना चाहेगा। अंश का आकर्षण अंशी के लिए और अंशी का आकर्षण अंश के लिए। दोनों का अद्वैत ही व्यक्तित्व की परमता है।

बुनियादी सवाल यही है कि जिससे मैं अपने अस्तित्व का, अपने 'होने' का अनुभव करता हूं—वह मेरा 'मैं' है। अहं है, अहंकार है। दूसरों के पास भी है, लेकिन वह उनका 'मैं' है। अपनी-अपनी स्थितियों तथा उनकी स्वयं-विद्या (उसका परिणाम) के अनुसार, पर यह भिन्नता कृत्रिम है।

उपनिषद् के अनुसार 'तुम' तो थोड़ा-बहुत विदित रहता है। अन्य अविदित रहता है। कठोपनिषद् में परमतत्त्व को विदित और अविदित, दोनों से ऊपर बताया है। ईशोपनिषद् के अनुसार दूर से दूर है, निकट से निकट है। 'अधिगंतव्य' बन नहीं पाता।

अतः शुरुआत पहले 'मैं' को जानने से होनी चाहिए। अपनी वास्तविकता से अनभिज्ञता सब से खतरनाक अज्ञान है। मैं क्या हूं? चर्म-मांस और हड्डियों मात्र की देह वाला या प्राणवान, मननकर्ता या वासनाओं (आकांक्षाओं) का पुंज या ज्ञानधारा? असल में इस शरीर में यह सब है—संयुक्त। प्राण भी है और वाणी भी है। वाणी (आकाश) के द्वारा ही अन्य चार भूतों को जाना जा सकता है। आकाश प्रथम उत्पत्ति है। वाणी व्यक्तित्व की पहचान है। वाणी (अभिव्यक्ति) को वेदों में 'ऋक' भी कहा गया है। यह प्रथम व अद्वितीय शक्ति है—मनुष्य की। व्यक्तित्व का दूसरा अंश मननशक्ति का है। यह मन द्वारा संपन्न होता है। मन को चंचल भी माना गया है तथा विचार-शक्ति के लिए बुद्धि को माना गया है। लेकिन, यहां मन को मननशील मानने में गुनने से अभिप्राय है, जिसे वेद-त्रयी में 'यज्ञ' भी कहा गया है। वाणी और मन—दोनों अंशों को 'चेतना और स्थावरता' नाम भी दिया है।

वाणी तथा मन को जोड़ने वाला तीसरा तत्त्व प्राण है। प्राण आत्मा की छाया है। प्राण तथा आत्म-तत्त्व सदा साथ रहते हैं। ये सर्वथा जाग्रत रहते हैं। छांदोग्य तथा बृहदारण्य में प्राण को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ माना गया है। प्राण को 'साम' भी कहा गया है।

हम मनोविज्ञान में ज्ञान, इच्छा और क्रिया की बात करते हैं। वाणी (ऋक) ज्ञान रूपा है। मन (यजु) कर्म का प्रेरक है। साम (प्राण) में संगीत है। उद्गीथ है।

ऐसा माना गया है कि प्राण अपनी प्रक्रिया में सोऽहम् की पुनरावृत्ति करता है। व्यक्तित्व का बाहरी संसार और आंतरिक संसार—दोनों इस उद्गीत में अनुस्यूत हैं।

अर्थात् चेतना और विस्तार, जड़त्व एवं जंगत्व, तरलता तथा सघनता, स्तब्धता एवं सक्रियता का सम्मिश्रित रूप 'मैं' का स्वरूप है।

'तुम' जो कि पृथक है और बाहर है, उसका जितना भी ज्ञान हो पाता है—वह दो इंद्रियों से हो पाता है, आंखों से तथा कान से। ये दोनों इंद्रियां (मुख्य रूप से) हमारा सीधा संबंध बाहर से स्थापित करती हैं। सामाजिकता का भाव यही करवाते हैं। 'मैं' के व्यक्तित्व में इनका भी योगदान है। इनके सहयोग से ही दीप्ति, ओज तथा पार्थिव बल मिलता है। यह तभी मिलता है, जब हम इसके साथ सही रूप में संयुक्त हों। वह हमें वैसा ही और उतना ही देता है, जितना और जैसा हम इसको देते हैं। इसीलिए देने को 'यज्ञ' कहा गया है। अपने आचरण से, मनन से, वाणी से, चेतना के बोध से तथा प्राण से आस्था के साथ आहुति देना संसार से एकात्म होना है। क्योंकि यह भी उस अंशी का अंश है जिसका अंश मेरा अस्तित्व है। यजुर्वेद के छत्तीसवें अध्याय का प्रथम मंत्र—

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये। चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ।।

व्यक्तित्व की संयुक्ति तथा सामंजस्य इसी में है कि मैं ऋग्वेद रूपी वाणी को प्राप्त होता रहूं, यजुर्वेद रूपी मन को प्राप्त होता रहूं, सामवेद रूपी प्राण को प्राप्त होता रहूं। मैं चक्षु और श्रोत्र को प्राप्त होता रहूं। मेरी वाणी का ओज, मेरी समस्त शक्तियों का सम्मिलित ओज और मेरे प्राण तथा अपान की क्रिया सब मेरे साथ रहें। यह मेरी संपदा है, यही मेरे व्यक्तित्व की आभा है। मेरी आत्मा का मूल्य इन्हीं के द्वारा आंका जाएगा।

मानव का आभ्यंतर भाव, ज्ञान और कर्म का समवाय है। कर्म का रूप आचरण से पता लगता है। वाणी से ज्ञान का पता लगता है। लेकिन, भाव अपनी अभिव्यक्ति हृदय के माध्यम से दे पाता है। भाव का स्थान हृदय है। भावों

की अभिव्यक्ति शारीरिक चेष्टाओं से होती है, लेकिन यह भी पूर्णतः नहीं हो पाती। ऐसा लगता रहता है कि बहुत-कुछ अव्यक्त रह गया, अप्रकट। वाणी की भी यही सीमा है। इंद्रियां पूर्णता से ग्रहण नहीं कर पाती हैं। हम किसी दृश्य को कितनी भी एकाग्रता से देखें, उसका पूरा सौंदर्य आत्मसात हो गया—इसके लिए पूरी तरह से आश्वस्त नहीं हो सकते। क्योंकि वह भी पल-पल बदलता होता है। जितना आत्मसात करते हैं और उसको अगर अभिव्यक्त करना चाहें, तो अभिव्यक्ति के बाद महसूस होता रहता है कि कुछ है जो अनभिव्यक्त रह गया। यह अपने बिंब में आनंदित तो करता है, लेकिन मौन में। इसीलिए गूंगे का स्वाद-सा रहता है। जैसा अंश होगा, वैसी ही उसके अंशी की कल्पना होगी।

चार पुरुषार्थ और तीन ऋण

वेदों में मानव के लिए चार पुरुषार्थों (लक्ष्यों) को माना गया है। ये उद्देश्य या मूल्य आधारभूत अंतःप्रवृत्तियां भी हैं। ये आयु के विकास के साथ विशिष्ट आयु अवधि की प्रमुख अनुकरणीय प्रवृत्तियां (स्वभाव) भी हैं, जिनके लिए संकल्पित होना चाहिए। लेकिन, ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि ये अलग-थलग रहने वाले उद्देश्य हैं। चारों का महत्त्व एक साथ भी माना जाना चाहिए। ये पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष हैं। इनकी थोड़ी विवेचना निम्नानुसार की जा सकती है।

धर्म

धर्म की अवधारणा को काल सापेक्ष (समय सापेक्ष) मानकर विचार करना सम्यक् रहेगा। धर्म का संबंध जितना हमारी श्रेष्ठता से है, उतना ही हमारे ऊर्ध्वारोहण से है। अर्थात् अंतःकरण को परिशुद्ध कर उसका संकोचन कम करते हुए उसे विस्तार संपन्न दृष्टि वाला बनाना चाहिए। सम्यक् दर्शन या दृष्टि (बुद्धि) से यही तात्पर्य है कि हमें क्षण-प्रभावी इंद्रियों के सुख की तुलना में ऐसे सुखों की कामना करनी चाहिए कि जिनका रूपांतरण आनंद में हो सके। इसी को चैतन्य होना और विवेक का प्रज्ञावान होना कहा गया है। बुद्धि तथा तर्क के द्वारा किसी पदार्थ अथवा स्थिति अथवा आचरण का विश्लेषण तो कर पाते हैं, लेकिन विवेक (रेशनेलिटी) हमें यह बताता है कि अमुक पदार्थ, स्थिति, कार्य हमें अनुकूल, औचित्यपूर्ण तथा हमारे चरित्र को शीलवान बना रहा है या नहीं?

शील से तात्पर्य विनम्रता से, सह-संवेद से तथा तादात्म्यता से है। अहंकार के स्वार्थीपन से स्वतंत्र होने से है। जिसे हम नैतिक, शांति बढ़ाने वाला तथा स्वयं को व दूसरों को उदात्त बनाने वाला वरण कहते हैं—वह प्रज्ञा (सम्यक् ज्ञान) का ही निर्णय होता है। प्रज्ञा यदि रूढ़ होती लगे (सांसारिक व्यवस्था के कारण) तो उसे विवेक की सहायता से पुनः संस्कारित करना चाहिए। दुविधा अथवा अविश्वास में यही दिक्कत है कि वह टिकाव नहीं लेने देता। लेकिन, मनुष्य को ऐसा आलंबन चाहिए जिस पर वह पूर्ण निष्ठा रख सके। निष्ठा के बगैर वह संकल्पित नहीं हो सकता है। संकल्प का क्रियात्मक फलागम तभी संभव है जब व्यक्ति 'व्रत' ले। किसी भी तरह के पर-कल्याण तथा जन-मंगल के कार्य के लिए कृतसंकल्प होना और उसके अनुसार कार्य करना जरूरी है। धर्म की पहली शर्त है—अंतःशक्ति, आत्मबल।

आधुनिकता के संदर्भ में तथा वर्तमान समय में जबकि वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक विकास ने विश्व के देशों को निकट कर दिया है तथा संचार माध्यमों व 'इलेक्ट्रोनिक' बढ़ोतरी ने जीवनशैली को प्रभावित कर रखा है, व्यक्ति का चिंतन भी तल से हिल गया है। चिंतन में अवरोध उत्पन्न हो चुका है तथा जीवन अल्पकालिक लक्ष्यों की प्राप्ति में उलझता रहता है।

हमारी मुश्किल यह है कि हम टुकड़ों-टुकड़ों में दोष देखकर पूरे वातावरण को विश्लेषित नहीं करना चाहते, अपितु कभी सत्ता में पहुंचे विशिष्ट लोगों की राजनीति, कभी पूंजीवाद, कभी बाजारवाद और कभी इनके कारण गलाकाट प्रतियोगिता को दोष देते हैं। विवेकवाद, मानवतावाद, जन-कल्याण, समानता, न्याय, स्वतंत्रता, राजनीति व वर्तमान वित्तीय संस्थाएं और सामाजिक संस्थाएं—सब मुखौटे ओढ़ चुके हैं। धार्मिक संस्थाएं—भले वे किसी भी धर्म की हों—मूल रूप में अभिव्यक्त चिंतन तथा उनके अनुसार आचरण करने तथा चरित्र निर्माण के बजाय औपचारिक प्रदर्शन को महत्त्व दे रहे हैं। यह इनको धार्मिक सत्ता से जोड़ रहे हैं।

इस व्यापक विकृति का कारण स्वयं मानव है, जो

अनास्था की गिरफ्त में है। किसी भी जरिए से वह अपनी वरण-स्वतंत्रता को विकसित करने (पाने) के लिए आतुर तथा तत्पर नहीं दीखता। धर्म की मूल मांग है—स्वतंत्रता। यह स्वतंत्रता उसे तभी प्राप्त हो सकती है जब वह आत्मविश्लेषण (अंतःविश्लेषण) करे। वह यह जाने कि धनबल, सत्ताबल, पदबल, साधनबल की 'आनी-जानी' माया उसे किस कदर 'अविवेकी', 'संवेदनहीन' तथा 'अमानवीय' व अ-सामाजिक सृष्टि का क्षतिकर्ता बना रही है।

धर्म ने इसे 'प्रमाद' या 'पागलपन' की संज्ञा दी है। अजीब-सी अज्ञानता है कि हम घर को पलीता दिखाने में अपनी विजय मान रहे हैं।

हम उस ऊर्जा को नहीं पहचानना चाहते जो सृजनात्मक है। हम अपनी इस ऊर्जा को पहचानें और उस ऊर्जा को समझें—जिसके तहत सृष्टि सुव्यवस्था के रूप में चल रही है। यह सृष्टि का ऊर्जा प्रवाह हमें क्यों प्रेरित नहीं कर पा रहा है—इसको जानने की कोशिश करें। हमारी विकृति तथा हताशा तथा क्षीण आत्मविश्वास का कारण इसी तथ्य में विद्यमान है। हम न अपनी सृजनात्मक ऊर्जा पर आस्था रखना चाहते हैं, न सृष्टि की सर्जनात्मक ऊर्जा पर। धर्म की व्याख्या को यदि बिना औपचारिकता के, इस दृष्टि (चेतना) के साथ परखें तो कदाचित नया रास्ता दीखेगा।

वेदों में कहा है—**यतो अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः** (जो मनुष्य को अभ्युदय की सिद्धि कराए, निःश्रेयस की सिद्धि कराए—वह धर्म है।)

हम 'अ-दीन' बनें। यानी परवश, भौतिकता के इतने वश में न हो जाएं कि अपने को दीन तथा निःसत्त्व समझने लगें—ऊर्जाहीन। **अदीनाः स्याम शरदः शतम्**—हम अ-दीन होकर सौ वर्ष तक जीएं।

अर्थ

पश्चिम के विचारकों ने भारतीय दर्शन में 'मुक्ति' और 'निर्वाण' को लेकर तथा संसार को दुख और क्लेश का जनक मानने की वजह बहुत गलत समझा है। उन्होंने माना कि संसार की प्रत्यक्षता से मुंह मोड़ना निराशावादी एवं पलायन है। निवृत्तिमूलक भावना से संन्यास की वकालत करना और भी भ्रमपूर्ण तथा अविवेकी अवधारणा है। जीवन का लक्ष्य लोकातीत तत्त्वों में मानना बौद्धिकता तथा तर्कसम्मत प्रत्यक्ष प्रमाणों की अवहेलना है, अ-वैज्ञानिक सोच है, आदिम सोच भी है।

पश्चिम के ये विचार उनके अल्प-अध्ययन के द्योतक हैं। उन्होंने हमारे सांस्कृतिक आधार को ही सही रूप में नहीं समझा, तो उसकी अंतर्वस्तु के अर्थ व अभिप्राय को वे कैसे समझ पाते?

चार पुरुषार्थ के क्रम को भी देखें तो पहला धर्म है, दूसरा अर्थ, तीसरा काम और चौथा मोक्ष है। हमारे यहां इनका संबंध आश्रमों की अवधारणा से जुड़ा है, जो आयु सापेक्ष है। आज भी इनका सत्य उतना ही सारमय है, जितना पहले रहता आया है। आश्रमों के महत्त्व को आगे समझने की कोशिश करेंगे, अभी पुरुषार्थों की बात।

धर्म के साथ ही जुड़ी है—शिक्षण व्यवस्था। धर्म की स्थिति तीन आयाम की है। इनको इस तरह रखा-जा सकता है— (1) शिक्षण कौन तथा कैसी दृष्टि से संपन्न करता है—शिक्षाकांक्षी को? (2) उस के द्वारा प्राप्त ज्ञान समाज तथा संसार से निबटने के लिए कौन-सी दिशा उसे बताता है? (3) अर्जित ज्ञान तथा उससे पुष्ट हुई जीवन दृष्टि उसका संस्कार कोष बनी या नहीं—जो उसके आचरण को सहज, स्वाभाविक तथा अंतःस्फूर्त बनाए कि उसका ज्ञानात्मक-आचरण उसका पुख्ता चरित्र बन जाए।

पहला आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है, जिसमें बाल आयु से युवा आयु तक हर प्रकार का ज्ञान ऋषि आश्रम में प्रशिक्षु पाता है। संयम की, यज्ञीय प्रार्थना की तथा संतुलित मर्यादापूर्ण जीवन जीने के लिए अभ्यस्त होने की जिसमें प्रमुखता थी। धर्म का मतलब धारण करना है यानी अर्जित ज्ञान को जीवन में ढाल लेना। धर्म जीवन से अलग-थलग कोई ऐसा विज्ञान नहीं है, जो मात्र सिद्धांतों से अवगत करवाए। यह 'नॉलिज' अर्थात् जानकारी नहीं है। धर्म वह है—जो हमारा व्यवहार बने। निवृत्ति (निष्कामता) के प्रकाश में प्रवृत्ति-स्वभावी कर्म ही धर्म है। प्रवृत्तिमूलक कर्म के साथ ही मर्यादाओं व मूल्यों की अंतर्निहितता रहती है।

अर्थ (धन) की उपेक्षा नहीं की गई है, लेकिन उसके अर्जन के लिए अपने पवित्र भावों को दरकिनार करना

या धन को अनैतिक रूप से कमाने को पाप कहा गया है। अस्तेय (चोरी न करना, अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के अधिकार की उपेक्षा न करना) तथा अपरिग्रह (संचय न करना), दोनों को ही 'यम' के अंतर्गत माना है। 'यम' संकल्प हैं, व्रत हैं—जिनको अपने आचरण में शामिल करना होता है। इन में पहला तथा प्रमुख यम है—अहिंसा (किसी को वाणी से, कर्म से, आक्रामकता से आहत न करना)। अहिंसा का ही सबल पक्ष है—संवेदना। हम दूसरों की इच्छाओं और आकांक्षाओं को समझें।

यहां एक दृष्टि से और विचार किया जा सकता है। आरंभ में जब कि कबीलाई जीवन था—श्रम विभाजन स्वतःप्रेरित था। अधिकार सामूहिक था, 'प्राप्त' पर। उसके बाद वस्तु-विनिमय आरंभ हुआ। जो मेरे उद्यम से मेरे पास अर्जित है और जिसका आधिक्य है, उसे दूसरे को देकर अपनी आवश्यकता की वस्तु ले लें। वैश्यों द्वारा पहले व्यापार में भी यही होता था। अब आयात-निर्यात होता है। लेकिन, व्यापार के साथ लाभ, संचय तथा व्यापार को विस्तार देने की असीमित इच्छा ने हर तरह के साधन (सही-गलत) और तरीके अपनाने शुरू कर दिए। यह आत्म-सुरक्षा अथवा भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से नहीं अपनाया गया, बल्कि 'प्रमाद' के रूप में अपनाया गया—यह मानकर कि धनशक्ति ही एकमात्र शक्ति है। जब धनशक्ति या भय-विस्तारक शक्ति मूल्य बन जाए, तब संवेदना अथवा मानवीय समता और न्याय तथा स्वतंत्रता रह नहीं सकती। 'रेशनेलिटी' भी धोखा बन जाती है। अर्थ का ऐसा पिछलग्गूपन वर्जित है।

धर्म में दान और त्याग की व्यवस्था है। भावनात्मक विवेक या विवेकात्मक भावना ही हमें सह-संवेदना की अनुभूति कराती है और अर्थ हो अथवा काम, यही उसका आनुपातिक उपयोग करा सकती है। हम सृष्टि तथा विस्तारित विश्व-परिवेश और प्राणी जगत से प्रेम करके अपने आंतरिक सौष्ठव को उत्तरोत्तर बढ़ा सकते हैं।

अर्थ और काम की प्रखरता (प्रवृत्ति के अनुसार) युवा आयु में होती है। संभलना या गिरना, आरोहण या तल-गतित होना इसी आयु में घटित होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की चारित्रिक तैयारी, अर्थ तथा काम का संयत उपयोग (भोग) गृहस्थ आश्रम की कसौटी रहा है, जिसमें सामाजिकता का उत्तरदायित्व भी प्रमुखता से स्वीकृत रहा है। अर्थ और काम की अति व्यक्तित्व और समाज को विकृति की तरफ ले जाती है, जैसा आज हम पा रहे हैं। शिक्षण-प्रशिक्षण (दीक्षा) ही जब आधाररहित तथा संस्कृतिविरत होगा तब उन्मादी या विक्षिप्त चरित्र ही 'सिंचन' पाएगा।

काम

गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश से पहले तथा ब्रह्मचर्य-आश्रम की अवधि पूरी होने के बाद 'स्नातक' के समावर्तन संस्कार में आचार्य स्नातक से प्रतिज्ञा करवाता है कि—

ऋतंच स्वाध्याय प्रवचने च।
सत्यंच स्वाध्याय प्रवचने च।

इस प्रतिज्ञा के साथ स्नातक से अपेक्षा की जाती है कि वह नैतिक नियमों को धारण करता हुआ वेदों का अध्येता रहे। सत्य (सृष्टि की व्यवस्था और नियम) का पालन करे, दम (इंद्रियों को दुष्टाचार से बचाए), शम (क्रोध आदि का शमन) व तप में रहेगा। संस्कारवान 'ब्रह्मचारी-स्नातक' जब विवाह करने के पश्चात् गृहस्थ में प्रवेश करता है, तब उसकी मूल्यवान पूंजी रहती है—चरित्र तथा ज्ञान की दृष्टि, जो पूर्व की आयु-अवधि में दृढ़ हो चुकी है।

काम शब्द के दो अर्थ मिलते हैं—पहला कामना, इच्छा तथा दूसरा—रति संबंध।

हमारे यहां काम को कला भी माना गया है तथा वात्स्यायन ने इसे शास्त्र का रूप देकर रति को भिन्न-भिन्न कोणों से विश्लेषित किया है। इसमें स्त्री-पुरुष के स्वभाव तथा संबंध की भी व्याख्या की गई है। इसके विलास-रूप के कारण यह महज 'मैथुन-क्रीड़ा' मानी जाने लगी, जबकि इसका संयत तथा पवित्र रूप भी है। इसीलिए विवाह संस्कार को अनिवार्य माना गया है। पुरुष, स्त्री के बिना आधा तथा अपूर्ण है और बिना गृहस्थ-आश्रम के जीवन को ही एकांगी तथा अपूर्ण माना गया है। पितृ-ऋण से उऋण होना संस्कारवान संतान को जन्म देना है।

विवाह के समय पुरुष तथा स्त्री द्वारा ली जाने

वाली शपथ कितनी पवित्र है—यह जानना आवश्यक है। यह शपथ है—

वर अपने दक्षिण हाथ में वधू का दक्षिण हाथ लेकर यज्ञकुंड की परिक्रमा करता है और कहता है—'हे वरानने! तू अपनी इच्छा से मुझे वैसे ही प्राप्त हुई जैसे तेजोमय सूर्य को जल, दिशाएं और वायु प्राप्त होते हैं। परमेश्वर तुझे मेरे मन के अनुकूल करें और मैं भी तेरे मन के अनुकूल बनूं।'

वधू भी कहती है—'अब मेरी जीवन-यात्रा का पंथ मुझे आप जैसे पति की ओर ले जा रहा है। मैं कल्याणरूपा तथा अरिष्टा होकर आपके लोक को प्राप्त करूं।' *(वैदिक संस्कृति और सभ्यता, डॉक्टर मुंशीराम)*

संतुष्टो भार्ययाभर्ता भर्त्रा तथैव च
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।

जिस गृह में पति से पत्नी और पत्नी से पति संतुष्ट रहते हैं, वहां स्थिर रूप से कल्याण निवास करता है।

मोक्ष

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष स्वाभाविक तौर पर वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम के लिए ही मान्य रहा है। यह प्रौढ़ व वृद्ध अवस्था में सार्थक माना गया है। तब तक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व से निवृत्त हो चुका होता है। तब आवश्यकताएं (भौतिक) स्वभावतः सीमित हो जाती हैं। अहंकार तथा अधिकार-भावना इस आयु में होनी नहीं चाहिए। आज का मनोविज्ञान भी यह मानता है। मोह से हटना और स्वयं के देहावसान के लिए अपने मनोभावों से अपने को तैयार करना ही 'मोक्ष' है। इस स्थिति को पाने के लिए आलंबन रूप में 'ईश्वर' को मान्यता दी गई है।

आधुनिक संदर्भ में मोक्ष को हम इस दृष्टि से भी देख सकते हैं कि व्यक्ति अपने सर्वश्रेष्ठ को पाता हुआ, अपने को लोक-सहयोगी प्रमाणित करते हुए अपने आस्तित्विक आलंबन के सहारे मृत्यु को निर्विघ्न और सहर्ष स्वीकार कर ले। यही उसकी मुक्ति अथवा मोक्ष माना जा सकता है।

त्रिऋण

ऋण में होने के अर्थ हैं—कृतज्ञता, उत्तरदायित्व तथा एक प्रकार से ऐसा कर्तव्य जिसे निभाने के बाद ही ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है। लेकिन, जिन ऋणों को वैदिक चिंतन में मान्यता दी गई है, वे ऐसे ऋण हैं, जिनसे जीवन का निर्माण संबंधित है। ये ऋण निम्नानुसार हैं—**प्रथम—देव-ऋण** : वेदों में इंद्र, अग्नि, द्यावा, पृथ्वी, मातिरिश्वा, मित्र, वरुण, भग, अश्विन, बृहस्पति, मरुत, ब्रह्म और सोम को देवता माना गया है। ऐसा भी माना गया है कि ये प्रजनन शक्ति से संपन्न हैं। दांपत्य में बंधने के बाद पति उपर्युक्त देवताओं का हवाला देकर पत्नी से कहता है—हे कल्याणरूपे! जैसे सूर्य की किरण अनेक प्रकार की रचना करने में समर्थ होती है, इसी प्रकार तू प्रजोत्पत्ति (संतान उत्पत्ति) में समर्थ बन। इस प्रकार जन्म के साथ ही देव-ऋण में शिशु हो जाता है।

इस ऋण से क्या इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि शिशु (व्यक्ति) जन्म से ही आध्यात्मिक ऋण में हो जाता है? ऋक् भी प्राकृतिक व्यवस्था का नियम है, जिसके अनुकूल व्यक्ति को नैतिक रूप में होना होता है। **दूसरा—पितृ ऋण** : माता-पिता ने संतान को जन्म दिया। उसका पालन-पोषण उन्होंने किया, संस्कारयुक्त शिक्षा-प्रशिक्षण दिलवाया, विवाह किया। अब पुत्र के ऊपर ऋण है कि वह पुत्र के रूप में संतान को जन्म दे, ताकि वंश की सनातनता कायम रह सके। ध्यान रहे कि यह ऋण पुत्र पर ही है। पुत्री को तो दूसरे परिवार में जाना है और वहां के वंश को पुत्र जन्म देकर निरंतरता रखनी है। **तीसरा—ऋषि-ऋण** : यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितने उपर्युक्त दोनों ऋण हैं। बचपन से युवा आयु तक ऋषि के सान्निध्य में जितना ज्ञान पाया है, जैसे संस्कारों से पुष्ट हुआ है—वह ऋषि की कृपा के कारण है। इस आश्रम में बालक युवा आयु तक घर तथा समाज से अलग वन में रहता है, ताकि अध्ययन तथा चरित्र निर्माण में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़े। ब्रह्मचर्य पालन करते हुए उसे ऋषि को पिता तथा ऋषि-पत्नी को माता मानना होता है। हर तरह का व्यावहारिक, आध्यात्मिक अभ्यास यहीं मिलता था। इसलिए ऋषि-ऋण शिक्षण के दौरान ही नहीं, बाद में भी रहता है। क्योंकि शिक्षण के परिणाम की परीक्षा तो आगे के जीवन में ही होनी होती है। गुरु को दक्षिणा देने का भी नियम रहा है। यह ऋषि-गुरु की इच्छा पर निर्भर है कि वह कब दक्षिणा ले। आज की

शेष पृष्ठ 55 पर

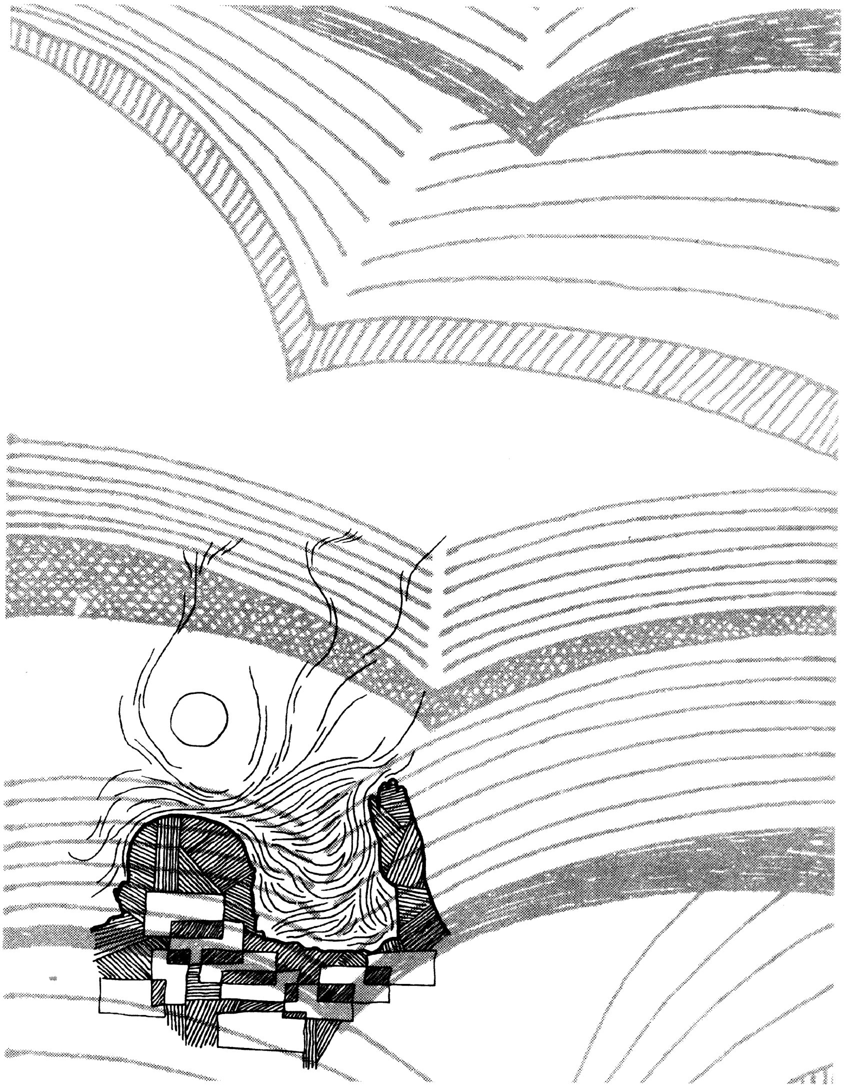

अनुभूति

कठिन है
अंधेरे को
आत्मा से
अलग करना

क्योंकि
दोनों की आंख
आखिर
उजाले पर है!

—**भवानीप्रसाद मिश्र**

संयम के लिए योग-साधना व इंद्रिय निग्रह—एक पहलू

आचार्यश्री महाश्रमण

अनेक लोग ध्यान करते हैं। ध्यान की यह साधना अयोग की ओर ही प्रस्थान है। इसमें शरीर को स्थिर किया जाता है। वाणी और मन का भी संयम किया जाता है। संयम का अभाव आदमी को पाप-बंध की ओर ले जाता है। इसलिए गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा है—

रोको काया री चंचलता नै थे श्रमण सती।
होसी जोगां पर काबू पायां ही नेड़ी मुगती।।

शरीर की चंचलता को रोकने के लिए काय-गुप्ति का अभ्यास किया जाता है। जैन साधना पद्धति में 'गुप्ति' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—'अशुभ प्रवृत्ति से अपने आपको हटा लेना, यानी शरीर से अशुभ प्रवृत्ति न करना, वाणी से अशुभ भाषा का प्रयोग न करना और मन से अशुभ चिंतन आदि न करना क्रमशः कायगुप्ति, वाक्गुप्ति और मनोगुप्ति है।'—इससे भी आगे जितना संभव हो सके आदमी न तो शरीर से प्रवृत्ति करे, न वाणी से बोले और न ही मन से चिंतन करे। यह विकास की अग्रिम भूमिका है।

स्पर्श-इंद्रिय ऐसी इंद्रिय है जो छोटे-छोटे जीवों में भी होती है और पेड़-पौधों में भी होती है। यह पृथ्वी, पानी आदि में भी होती है, और मनुष्य में तो होती ही है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश। इन सभी स्पर्शों में—चाहे वे मनोज्ञ हों या अमनोज्ञ हों—मनोज्ञ हों तो प्रियता या राग-भाव नहीं करने और अमनोज्ञ हो तो अप्रियता या द्वेष भाव नहीं करने की साधना एक साधक को करनी चाहिए।

प्रश्न किया जाता है कि—**'फासिंदिय निग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ**—भंते! स्पर्श-इंद्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है?'—उत्तर दिया गया—**'फासिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधई, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ**—स्पर्श-इंद्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह होता है। स्पर्श संबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं होता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण किया जा सकता है।'

शरीर है तो स्पर्श भी होगा ही। गर्मी के मौसम में शीतल हवा चलती है और वह अच्छी लगती है। इसके विपरीत सर्दी के मौसम में धूप अच्छी लगती है। मौसम के अनुरूप शरीर को भी अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्श होने का अनुभव होता है। श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे कुंतीपुत्र! कोई स्पर्श शीत है, कोई उष्ण है, कोई स्पर्श सुख देने वाला है और कोई स्पर्श दुख देने वाला हो सकता है। ये आते हैं और चले जाते हैं। ये अनित्य

हैं। इनको तुम सहन करो। यह सहन करना ही साधना है। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया—

कण्णसोक्खेहिं सद्धेहिं पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए।।

कान को सुख देने वाले शब्दों के प्रति राग नहीं करना चाहिए और शरीर को असुहावने लगने वाले दारुण व कर्कश स्पर्श का अनुभव होने पर उसे भी सहन करना चाहिए। मन को दुर्बल नहीं करना चाहिए, द्वेष भाव नहीं लाना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के विषय में भी ज्ञातव्य है कि शब्द, रूप, गंध, रस भी अनुकूल या प्रतिकूल हों तो उनमें समभाव की साधना करनी चाहिए। स्पर्शों को झेलने का अभ्यास होना चाहिए कि आदमी गर्मी को भी कुछ सहन कर सके और सर्दी को भी सहन कर सके।

साधु-संत नीचे भूमि पर सो जाते हैं। उनको परीषहों को जीतने का विशेष रूप से अभ्यास होना चाहिए। जो लोग गद्दों पर सोने वाले हैं, उन्हें भूमि पर सोने के लिए कहा जाए तो कठिनाई हो सकती है। न केवल साधु को, एक सामाजिक कार्यकर्ता—जिसे समाज में रहते हुए गांवों में काम करना है—को भी कठोर स्पर्श झेलने का अभ्यास होना चाहिए। उसे सोने के लिए कभी कोरी भूमि मिल सकती है और कभी पलंग भी मिल सकता है। इसी प्रकार भोजन में कहीं अच्छे पकवान मिल सकते हैं, कहीं सामान्य-सा भोजन भी मिल सकता है। कहीं स्वागत किया जाता है, शॉल ओढ़ाया जाता है, मालाएं पहनाई जाती हैं और कहीं कुछ भी

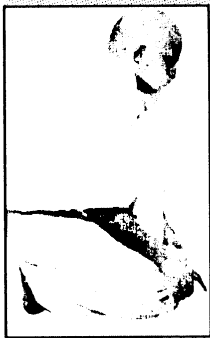

यह विकास मौलिक मर्यादाओं का प्रतिफल

❑ आचार्यश्री महाश्रमण ❑

तेरापंथ के इतिहास में आषाढ़ी पूर्णिमा एवं माघ शुक्ला सप्तमी का बहुत बड़ा महत्त्व है। विक्रम संवत 1817 आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन तेरापंथ संघ की स्थापना हुई एवं वि. सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी को इसका एक लिखत (मर्यादा-पत्र अथवा संविधान) लिखा गया। उसी के उपलक्ष में प्रतिवर्ष मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। प्रथम मर्यादा-महोत्सव श्रीमज्जयाचार्य ने वि. सं. 1821 में बालोतरा 'मारवाड़' में मनाया था।

महामना आचार्यश्री भिक्षु ने कोई ढाई शताब्दी पूर्व तत्कालीन साधु-समाज को परखा और साधना में आने वाले विघ्नों को पहचाना। उन्होंने पाया कि कुछ मर्यादाएं अनिवार्य हैं, जिनके भीतर रहते हुए एक साधक साधना में आने वाले अनेक अवरोधों से बच सकता है। उन्होंने मर्यादा के रूप में कुछ लक्ष्मण-रेखाएं खींचीं। यह कहा जा सकता है कि तेरापंथ के विकास में आचार्यश्री भिक्षु की उन मौलिक मर्यादाओं का बहुत बड़ा योगदान है। तेरापंथ की ये मौलिक मर्यादाएं इस प्रकार हैं—

—147वां मर्यादा-महोत्सव—
माघ शुक्ला पंचमी-सप्तमी
8-10 फरवरी

- सर्व साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
- विहार, चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
- अपने शिष्य न बनाएं।
- आचार्य अपने गुरु भाई या शिष्य को उत्तराधिकारी चुने तो सब साधु-साध्वियां उसे सहर्ष स्वीकार करें।
- गण के पुस्तक-पन्नों आदि पर अपना अधिकार न करें।
- गण से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति से संस्तव न करें।
- पद के लिए उम्मीदवार न बनें।

→

नहीं होता अथवा कहीं निंदा भी की जा सकती है। कार्यकर्ता को ये सब सहने का अभ्यास रखना चाहिए। यदि सहन करने का अभ्यास है, तो कार्यकर्ता अच्छा काम कर सकते हैं, अन्यथा मन कमजोर भी हो जाता है और काम करना छोड़ भी सकता है। इसलिए आदमी के पास सहन करने की शक्ति का विकास होना चाहिए।

हर आदमी के पास स्पर्श-इंद्रिय है, यानी शरीर है। इस शरीर के द्वारा परोपकार भी किया जा सकता है और दूसरों का नुकसान भी किया जा सकता है। भर्तृहरि ने नीतिशतकम् में सुंदर कहा है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुंडलेन,
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति कायः करुणापराणां,
परोपकारैर्न तु चंदनेन।।

—कान का आभूषण है—ज्ञान, यानी सुनना। कुंडल नहीं। वह तो बाह्य आभूषण है। हाथ का आभूषण है—दान देना, कंगन नहीं। यह भी बाह्य आभूषण है। जो करुणाशील लोग हैं, उनके शरीर का आभूषण है—परोपकार; दूसरों की सेवा करना। चंदन का लेप लगाना नहीं।

अतः आदमी सर्दी-गर्मी आदि स्थितियों को सहन करने का अभ्यास करे। इस शरीर को भोगी भी बनाया जा सकता है और शरीर को योगी भी बनाया जा सकता है। भोग भोगने से शरीर भोगी बन जाएगा और शरीर से योग-साधना करने पर शरीर योगी बन जाएगा। इस दृष्टि से योग-साधना की बात को ठीक से समझना जरूरी है।

कालांतर में आचार्यश्री तुलसी ने भी एक प्रेरक उद्घोष दिया—*'निज पर शासन फिर अनुशासन'*—यह सूत्र अनुशास्ता की अर्हता को प्रकट करता है। अनुशासन करने के लिए आवश्यक है कि पहले स्वयं पर अनुशासन किया जाए। अच्छा शिष्य ही अच्छा शास्ता बन सकता है। तेरापंथ के द्वितीय आचार्यश्री भारमलजी स्वामी अनुशास्ता बनने से पहले अपने गुरु आचार्यश्री भिक्षु के सुशिष्य बने और उनके अनुशासन में रहे। उनका जीवन तो स्वामीजी की प्रयोगशाला था। आचार्यश्री भिक्षु कोई भी नियम लागू करते तो वे उसका प्रथम प्रयोग भारमलजी पर ही करते। परिणाम यह होता कि मुनियों में सजगता आ जाती।

व्यवस्था को बनाए रखने के लिए विधि-विधान की अपेक्षा रहती है। आचार्यश्री भिक्षु ने मात्र मर्यादाओं का निर्माण ही नहीं किया, मर्यादा-पालक साधु-साध्वियों के मन में मर्यादा के प्रति निष्ठा का निर्माण भी किया। उन्होंने मर्यादाएं किसी पर थोपी नहीं। मर्यादाओं को स्वीकार करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया। सबकी स्वीकृति के बाद मर्यादाओं को लागू किया।

आचार्यश्री भिक्षु ने जिस उदार और तटस्थ दृष्टिकोण के साथ मर्यादाओं का निर्माण किया, वह उनकी आत्मार्थिता और दूरदर्शिता का प्रतीक था। जो संविधान चंद साधु-साध्वियों के लिए बनाया गया, वही संविधान वर्तमान में लगभग आठ सौ साधु-साध्वियों, समण-समणियों के लिए सुरक्षाकवच बना हुआ है। उन्होंने संघ के लिए ऐसी लक्ष्मण रेखाएं खींचीं, जिनके भीतर रहने वाला सदस्य स्वस्थ, आश्वस्त और विश्वस्त रह सकता है।

वस्तुतः अनुशासन एक लक्ष्मण रेखा है, जो क्रूर-वृत्तियों को भीतर प्रविष्ट होने ही नहीं देती। अनुशासन एक असंदीन द्वीप है, जो अथाह जलराशि में घिरे व्यक्ति को त्राण देता है। अनुशासन वहां अपेक्षित है, जहां संवेगों पर अनियंत्रण होता है, कषाय की प्रबलता होती है, इच्छा का सीमाकरण नहीं होता। जो अनुशासन के सहारे चलता है, वह विकास की उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो सकता है।

क्रांतिकारी आचार्यश्री भिक्षु ने साधना के दीवट पर मर्यादा का जो दीप जलाया, उसके प्रकाश में साधक अपना पथ ही आलोकित नहीं करता, अपितु मंजिल तक पहुंचने की सफल यात्रा भी निर्बाध कर सकता है। ●

इसी हेतु एक प्रश्न किया गया—**'जोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ**—भंते! योग प्रत्याख्यान से जीव क्या उत्पन्न करता है?'—उत्तर दिया गया—**'जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयई। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधई, पुव्वबद्धं निज्जरेइ**—योग प्रत्याख्यान से अयोगत्व निष्पन्न हो जाता है और जो अयोगी होता है, वह नए कर्म का बंध नहीं करता और पूर्व में बंधे हुए कर्मों का निर्जरण कर डालता है।'—कहा जा सकता है कि योग हमारे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है।

योग शब्द के अनेक अर्थ हैं—अष्टांग योग, स्वाध्याय योग, ध्यान योग, गमन योग आदि। संस्कृत भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो 'युजूंनर्' धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'जोड़'। इसका अर्थ 'समाधि' भी किया जा सकता है। आचार्य हेमचंद्र ने योग को मोक्ष का उपाय बताया है। प्राकृत वाङ्मय में कहा गया—**'मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो**—मोक्ष से जोड़ने वाला धर्म-व्यापार अथवा धार्मिक प्रवृत्ति योग है। यह योग शब्द की आध्यात्मिक व्याख्या है।'—योग की एक और परिभाषा भी है। वह है—**'कायवाङ्मनो व्यापारो योगः**—शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति योग है।'—सर्वथा योग-निरोध तो मोक्ष प्राप्ति से ठीक पहले चौदहवें गुणस्थान में होता है, जिसे 'अयोगी-केवली गुणस्थान' कहा गया है। वहां न शरीर की प्रवृत्ति होती है, न वाणी की प्रवृत्ति होती है और न मानसिक प्रवृत्ति। वहां—चिंतन, मनन, कल्पना आदि की कोई प्रवृत्ति नहीं होती है। यह अवस्था पूर्णतः **'अयोगी'** बन जाना है। अयोगी होने से किसी भी प्रकार के कर्मों का बंध नहीं होता। 'जैन सिद्धांत दीपिका' में गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा है—**'अबंधोऽयोगी'**—अयोगी के कर्मबंध नहीं होता। अगर सांसारिक अवस्था में सर्वथा संवर की भूमिका कहीं प्राप्त होती है, तो वह एकमात्र अयोगी अवस्था है—जहां सम्यक्त्व संवर, व्रत संवर, अप्रमाद संवर, अकषाय संवर और अयोग संवर—इन पांचों की एक साथ निष्पत्ति होती है। वर्तमान में उस अवस्था को प्राप्त करना नामुमकिन लग रहा है, परंतु उस दिशा में प्रयास तो होना ही चाहिए। वर्तमान में मुक्ति ही नहीं मिलेगी—यह मानकर आदमी प्रयास ही न करे, यह समझदारी नहीं होगी। साधना करने से मुक्ति निकट हो सकती है, जन्म-जन्मांतरों के फेरे अल्प हो सकते हैं।

अनेक लोग ध्यान करते हैं। ध्यान की यह साधना अयोग की ओर ही प्रस्थान है। इसमें शरीर को स्थिर किया जाता है। वाणी और मन का भी संयम किया जाता है। संयम का अभाव आदमी को पाप-बंध की ओर ले जाता है। इसलिए गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा है—

रोको काया री चंचलता नै थे श्रमण सती।
होसी जोगां पर काबू पायां ही नेड़ी मुगती।।

शरीर की चंचलता को रोकने के लिए काय-गुप्ति का अभ्यास किया जाता है। जैन साधना पद्धति में 'गुप्ति' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—'अभुश प्रवृत्ति से अपने आपको हटा लेना, यानी शरीर से अशुभ प्रवृत्ति न करना, वाणी से अशुभ भाषा का प्रयोग न करना और मन से अशुभ चिंतन आदि न करना क्रमशः कायगुप्ति, वाक्गुप्ति और मनोगुप्ति है।'—इससे भी आगे जितना संभव हो सके आदमी न तो शरीर से प्रवृत्ति करे, न वाणी से बोले और न ही मन से चिंतन करे। यह विकास की अग्रिम भूमिका है।

आदमी वाणी का प्रयोग करता है। वाणी बहुत महत्त्वपूर्ण है, पर आदमी का लक्ष्य यह रहे कि वाणी का संयम करना है। एक-दो घंटे का मौन करना है। मौन करने से जहां वाणी को कुछ विश्राम मिलता है, वहीं असत्य भाषण की संभावना भी क्षीण हो जाती है। मौन से कई लाभ हैं, किंतु व्यवहार के धरातल पर जीने वालों के लिए पूर्णतया मौन कठिन हो सकता है, इसलिए एक उपाय बताया गया कि अनावश्यक मत बोलो। वाणी के संयम से 'अयोग' की दिशा में आगे बढ़ने का मौका मिल जाता है।

अतः अध्यात्म की साधना का सार यही है कि आदमी इंद्रियों और मन का संयम करे। इंद्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह करे, जिससे वह तन्निमित्तक कर्म का बंध नहीं करेगा और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण कर सकता है। ❖

अहिंसक संगठन की बुनियाद : सहजीवन

दादा धर्माधिकारी

जब हम संगठन के बारे में सोचते हैं, तो हमारे सामने मुख्य विचार यह आता है कि संगठन किसलिए? संगठन की आवश्यकता क्या है?

मनुष्य एक-दूसरे के सिवा रह नहीं सकते। उन्हें एक-दूसरे के साथ रहना है। एक-दूसरे के साथ रहने की प्रेरणा स्वाभाविक प्रेरणा है। इस स्वाभाविक प्रेरणा से जो संगठन बनते हैं, उनका आधार स्वाभाविकता होता है, इसलिए उनमें स्थाई तत्त्व भी अधिक होता है। मनुष्य के स्वाभाविक प्रकृति-धर्म के अनुरूप संगठनों के आधार होंगे, तो उनमें अनायास ही स्थाई तत्त्व आ जाता है।

हम कुछ संगठन ऐसे बनाते हैं, जो औपचारिक और कृत्रिम होते हैं। औपचारिक और कृत्रिम संगठनों में थोड़ा-बहुत मानसिक प्रशासन आ जाता है। इस तरह कुछ प्रत्यक्ष प्रशासन भी आ जाता है और इनमें दबाव का भी कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है। इसलिए जहां तक शुद्ध अहिंसा का, शुद्ध स्नेह का सवाल है—संगठन उसके अनुकूल नहीं कहे जा सकते।

दोनों तरफ जब ऐसा हार्दिक प्रयास होता है, तब उसे 'उत्कटता' कहते हैं। समझाने में उत्कटता है, समझने में उत्सुकता है। जब परस्पर ऐसी अनुकूल भूमिका होती है, तब उसमें से स्वाभाविक सर्वानुमति सिद्ध होती है। यह सर्वानुमति औपचारिक नहीं, हार्दिक सर्वानुमति है। इसके लिए 'यूनेनिमिटी' शब्द नहीं लिया जाता है, 'यूनेनिमिटी' का मतलब है—'एकमत'। 'सर्वानुमति' शब्द लिया जाता है, जिसका अनुवाद है—'हार्मनी।' वैसी 'हार्मनी'—जैसी संगीत में होती है। भेद तो हों, लेकिन सारे भेदों को अगर मिलाएं, तो वे सारे भेद एक-दूसरे के अनुकूल होने चाहिए। इसीलिए उनमें से संवाद पैदा होता है। भिन्नता जब अनुकूल होती है, तब उन भिन्नताओं में से संवाद सिद्ध होता है। इसी को 'हार्मनी' कहते हैं।

परस्पर विरोधी शब्द

'स्वाभाविक संगठन'—ये दो शब्द ही परस्पर विरोधी हैं। मनुष्य एक-दूसरे के साथ रहना चाहता है। वह रहेगा भी, पर उसके लिए संगठन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन, जब हम कहते हैं कि संस्था और संगठन की आवश्यकता है—तो इसका मतलब यह है कि स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य का जितना सह-जीवन सिद्ध होता है, उतना हम पर्याप्त नहीं मानते। हम उस सह-जीवन को नियमबद्ध और सूत्रबद्ध करना चाहते हैं। इसका यह भी अर्थ हुआ कि हम उस सह-जीवन को मर्यादित करना चाहते हैं। संगठन जीवन को उन्मुक्त और क्षितिज-व्यापी नहीं रहने देता। संस्था बनी, तो जीवन संस्था के भीतर आया। मर्यादा हुई। जब तक संस्था और संगठन नहीं है, तब तक जीवन अमर्यादित है। संस्था और संगठन में आते ही जीवन मर्यादित हो जाता है। संस्था और संगठन मानव को मर्यादित करते हैं।

अहिंसक संगठन

अहिंसक समाज में औपचारिक और कृत्रिम संगठनों की संख्या कम-

से-कम होनी चाहिए और उसकी मात्रा भी कम-से-कम होनी चाहिए। हम एक आपद्धर्म के रूप में संस्था और संगठन का अंगीकार करते हैं, पर दोनों में दृष्टि का अंतर है। एक कहता है कि जब तक मनुष्य संगठित नहीं होगा और जब तक संगठन-कार्य अधिक सक्षम नहीं होगा, तब तक संगठन में कुशलता नहीं आएगी। तब तक मनुष्य का सांस्कृतिक विकास नहीं होगा। दूसरा कहता है कि संगठन की कुशलता की परीक्षा यह है कि उसमें से औपचारिकता और प्रशासन का अंश कम होता चला जाए और हार्दिकता का अंश बढ़ता चला आए। संविधान और नियम पहले तो हों ही नहीं, और अगर हों, तो कम-से-कम हों। संविधान और नियमों के आधार पर ही जो संगठन बनता और चलता है—उस राज्य के विषय में गांधी ने कहा कि—'वह सरकार सबसे अच्छी है, जो कम-से-कम हुकूमत करती है।'—यह थोरो का वाक्य है। थोरो ने इस वाक्य का भाष्य किया है कि वही शासन-प्रबंध अच्छा है, जिसमें प्रशासन, हुकूमत बिल्कुल ही न हो। जो सबसे चुस्त संगठन है, उस (सरकार) के विषय में ऐसा कहा गया है, तो दूसरे संगठनों के लिए यह अधिक मात्रा में लागू होता है।

गांधी का एक वाक्य है कि संस्था और संगठन में अहिंसा की कसौटी होनी चाहिए। कोई कहता है कि संगठन ऐसा हो—जो मनुष्य को संगठनों के बिना संपन्न होने वाले सह-जीवन की तरफ ले जाए। संस्था-संगठन मनुष्य को संगठन-निरपेक्ष जीवन की दिशा में ले जाए। हमारा एक पुराना सूत्र है कि मानव की सदस्यता का अंत हो और केवल उसकी मानवता शेष रह जाए। विलक्षण शब्द-शक्ति वाले विनोबा ने एक सूत्र दिया कि 'संघ' विलीन हो—'सर्व-सेवा' शेष रहे। अंत में वे कहेंगे कि 'सेवा' विलीन हो जाए, सिर्फ 'सर्व' शेष रहे। सेवा की भी आवश्यकता न हो।

संगठन क्यों?

मनुष्य का सृष्टि पर, वस्तुओं पर और उपकरणों पर जो प्रभुत्व है, उसकी परिणति मनुष्य के मनुष्य पर प्रभुत्व में हो रही है। इसलिए मूल प्रश्न यह है कि संगठन किसलिए? संगठन सत्ता के लिए हो या स्वतंत्रता के लिए? सत्ता दो तरह की है—एक भौतिक सत्ता और दूसरी—मनुष्य पर प्रभुत्व। जिसे राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक सत्ता कहते हैं। कहा जाता है कि संगठन और संस्था सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। यह आवश्यकता किसलिए है? इससे क्या सिद्ध होगा? हम क्या चाहते हैं? कहेंगे कि स्वतंत्रता के लिए। 'स्वतंत्रता किसकी?'—'व्यक्ति की।'—व्यक्ति की स्वतंत्रता से अर्थ है—उसकी बुद्धि की स्वतंत्रता, उसके शुद्ध मन की स्वतंत्रता। तो, यह मानसिक स्वतंत्रता, बौद्धिक स्वतंत्रता और इन दोनों के साथ मिली हुई शारीरिक स्वास्थ्य की स्वतंत्रता, शारीरिक संचार, विहार और प्रवास की स्वतंत्रता। ये सारी स्वतंत्रताएं कई प्रकार की हो सकती हैं। एक की स्वतंत्रता और दूसरे की स्वतंत्रता में जहां विरोध पैदा होता है, वहां दोनों की स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए तीसरी शक्ति की आवश्यकता पैदा होती है।

हम संगठन की आवश्यकता क्यों बताते हैं? एक के स्वार्थ में और दूसरे के स्वार्थ में विरोध पैदा होता है। एक की स्वतंत्रता, दूसरे की स्वतंत्रता के विरोध में खड़ी हो जाती है। इसलिए संगठन का उद्देश्य है, दोनों का अविरोधी स्वार्थ और दोनों की परस्पर अविरोधी स्वतंत्रता। 'प्रशासन कम होगा', ऐसा जब हम कहते हैं—तो उसका अर्थ क्या है? यही कि आप मेरी स्वतंत्रता में रुकावट नहीं डालेंगे, मैं आपकी स्वतंत्रता में रुकावट नहीं डालूंगा। मैं आपके स्वार्थ में रुकावट नहीं डालूंगा, आप मेरे स्वार्थ में रुकावट नहीं डालेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि दोनों के स्वार्थ परस्पर अविरोधी होंगे। इस अविरोधी स्वार्थ और स्वतंत्रता का संरक्षण जिस संस्था में होता है, उस संस्था का नाम है—समन्वयात्मक संस्था। ऐसे समन्वयात्मक संगठन और समन्वयात्मक संस्थाओं की आवश्यकता है।

शासन की आवश्यकता

मैं आपके स्वार्थ का विरोध न करूं, आप मेरे स्वार्थ का विरोध न करें, मैं आपकी स्वतंत्रता में रुकावट न डालूं, आप मेरी स्वतंत्रता में रुकावट न डालें—इसके लिए अगर बीच-बचाव करने की तीसरे की आवश्यकता हुई, तो यह आपकी और मेरी मनुष्यता में त्रुटि है। दोनों की समझदारी में अभी कुछ-कुछ कमी है।

संस्था में शासन की जितनी अधिक आवश्यकता होगी, उतना ही उसके सदस्यों में परस्पर विश्वास और स्नेह कम होगा। जहां परस्पर स्नेह और विश्वास होगा,

वहां एक-दूसरे के विचार के लिए केवल आदर ही नहीं, अनुकूलता भी होगी। यह सहिष्णुता नहीं है। दूसरे के विचार के लिए आदर नहीं है। केवल बौद्धिक उदारता नहीं है। यह विश्वासमूलक और स्नेहमूलक अनुकूलता है।

कोई जब कहता है कि संगठन के विषय में आप अपनी राय दीजिए, तो क्यों? इसलिए कि आपकी जो राय बनी हुई है, उसको या तो पक्की कर लेना चाहते हैं या शुद्ध कर लेना चाहते हैं। इसके बाद वह पक्की या दुरुस्त नहीं होती और मेरी राय आपको ठीक नहीं जंचती, तो मैं आपकी राय को समझ लेना चाहता हूं। दोस्ती और मुहब्बत से एक-दूसरे को समझने की जो कोशिश पैदा होती है—वह इन संस्थाओं की आत्मा है।

परस्पर समझने की कोशिश

संस्था और संगठन की अगर कोई आत्मा होती हो, तो अहिंसक संस्था और संगठन की यह आत्मा है कि उसके सदस्य एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते हैं। न समझ पाने पर कहते हैं कि आपकी राय समझने की मैंने कोशिश की और अब भी समझने की कोशिश चल रही है, लेकिन अब तक नहीं समझ सका हूं। दूसरे कहते हैं कि जब तक तुम नहीं समझ सकते, तब तक फैसला करने की क्या जरूरत है? तुम अड़ियल होते, तो बात अलग थी, लेकिन अड़ियल हो नहीं। तुम देख रहे हो कि हम सबकी राय एक तरफ है, तुम्हारी राय एक तरफ। तुम्हें इसकी चिंता है, उत्कंठा है कि इन सबकी राय एक है, तो वह मेरी समझ में क्यों नहीं आ रही है। दूसरी तरफ हमें परेशानी है कि हम सबकी राय अगर एक है, तो हम तुम्हें क्यों नहीं समझा पाते।

दोनों तरफ जब ऐसा हार्दिक प्रयास होता है, तब उसे 'उत्कटता' कहते हैं। समझाने में उत्कटता है, समझने में उत्सुकता है। जब परस्पर ऐसी अनुकूल भूमिका होती है, तब उसमें से स्वाभाविक सर्वानुमति सिद्ध होती है। यह सर्वानुमति औपचारिक नहीं, हार्दिक सर्वानुमति है। इसके लिए 'यूनेनिमिटी' शब्द नहीं लिया जाता है, 'यूनेनिमिटी' का मतलब है—'एकमत'। 'सर्वानुमति' शब्द लिया जाता है, जिसका अनुवाद है—'हार्मनी।' वैसी 'हार्मनी'—जैसी संगीत में होती है। भेद तो हों, लेकिन सारे भेदों को अगर मिलाएं, तो वे सारे भेद एक-दूसरे के अनुकूल होने चाहिए। इसीलिए उनमें से संवाद पैदा होता है। भिन्नता जब अनुकूल होती है, तब उन भिन्नताओं में से संवाद सिद्ध होता है। इसी को 'हार्मनी' कहते हैं। सर्वानुमति का असल अर्थ है—वृंद-संगीत में, सामुदायिक संगीत में जो 'हार्मनी' होती है—वह है। 'आर्केस्ट्रा' में गायन और वादन, दोनों में भेद है, लेकिन दोनों का संवाद है—'हार्मनी'। इसलिए गांधी ने कहा कि संगठन अहिंसा की कसौटी है।

संगठनों की भयानकता

संगठनों की शक्ति जितनी बढ़ती जाती है और उनके पास एक-दूसरे पर प्रहार करने के साधन जितने बढ़ते जाते हैं—संगठनों की भयानकता उतनी ही बढ़ती जाती है। इन संगठनों की—मैं सेनाओं की ही बात नहीं कर रहा हूं—इन शिक्षण-संस्थाओं की, धार्मिक संस्थाओं की प्रहार-क्षमता जितनी बढ़ती चली जाएगी, उतना ही इनका संगठन मनुष्य-समाज के लिए आपत्तिजनक होगा और मानवता के लिए घातक सिद्ध होगा। हमें किस वस्तु से बचना है, क्या करना है—इतना तो निश्चित कर ही लेना चाहिए। ऐसा करना बहुत आवश्यक है।

सहयोग का आधार

अहिंसक संगठन सहयोगात्मक होना चाहिए, प्रतिकारात्मक नहीं। उसका आधार सहयोग होगा। जितने भी संगठन बनें—उनका उद्देश्य, आधार और पद्धति सहयोग हो, उनकी नींव सहयोग हो, उनका ढांचा सहयोग हो और शिखर भी सहयोग हो।

आज के संगठनों में सहयोग प्रतिकार के लिए, संघर्ष के लिए होता है। उसका सम्मिश्र आशय बुद्धि को असमंजस में डाल देता है। हृदय को अभिशप्त कर लेता है। फिर अनुभव होता है कि कोई प्रतिपक्षी न हो, तो संगठन में प्राण नहीं रहेगा। जब तक सामने कोई प्रतिपक्षी नहीं है, तब तक संगठन में तेज नहीं है। यहां 'तेज' का मतलब 'ज्वाला' है। 'तेज' का मतलब 'प्रकाश' नहीं। ज्योति प्रकाश देती है, भले चाहे छोटी ही हो। ज्वाला में दाहकता होती है। संगठन के तेज से हमारा मतलब यह है कि उसमें दाहकता होनी चाहिए। वह दाहकता या तेज हमारे संगठन में न हो—तो हम समझते हैं कि हमारे संगठन निःसत्त्व, निष्प्राण और निस्तेज हैं।

अहिंसक संगठन कुछ फीके-फीके से क्यों मालूम होते हैं? इसलिए कि उनमें संघर्ष का मसाला नहीं है, विरोध का छौंक नहीं है। कोई वस्तु, कोई संस्कार, कोई पद्धति, कोई प्रक्रिया हमारे विरोध में हो, तो आवेश के लिए पर्याप्त नहीं है। उसके लिए कोई प्रतिपक्षी चाहिए। लेकिन वह कौन-सा हो? वह मानवीय हो।

रावण के दस मुंह, तो हमारी दस इंद्रियां हैं। रावण के बीस हाथ, तो हमारे बीसों दोष हैं। किसी ने कहा कि रामायण तो फीकी है, तो उसको कौन पढ़ेगा? और रामलीला में? रामलीला में रावण खड़ा किया गया है और एक सुकुमार लड़के को राम बनाया गया है। यह उसको बाण मारता है, तो जोश आता है। क्या इस बुनियाद पर हमारा अहिंसक संगठन हो सकता है? यह सवाल हमारे सामने है।

अहिंसक प्रक्रिया में प्रतिकार तात्कालिक, नैमित्तिक धर्म है। नित्य आचरण का धर्म है—सहयोग। उसके साथ भी जो हमारा प्रतिपक्षी हो—सहयोग हो। जितने अंश में और जिस स्थान पर हमारा उसका मतभेद होता हो और जहां विरोध करना आवश्यक हो, उतने ही अंश में, उसी स्थान पर विरोध। अन्य सारे अंशों और स्थानों पर सहयोग। यह उसका नित्य धर्म है। उसके उस प्रतिकार में स्नेह का अनुपान होता है। अगर कड़वी पीपल भी खिलानी हो, तो शहद में मिलाकर खिलाई जा सकती है।

प्रतिकार में यह जो स्नेह का अनुपान है, वह कहां से आता है? वह अहिंसक संगठन से आता है। सार्वत्रिक स्नेह और सौहार्द का वातावरण हो, सार्वत्रिक सद्भाव छा रहा हो—इस प्रकार के वातावरण में संघर्ष हो रहा है। तब संगठन, संस्था बनी किसलिए थी? भावरूप सहृदयता के लिए। प्रसंग-विशेष में तात्कालिक संघर्ष होता है। प्रतिकार होता है, तो उसमें विषमता नहीं आती। नहीं तो विषमता आती है। अहिंसक संगठन अगर संघर्ष-प्रधान होगा, तो मनुष्य का जीवन संघर्ष-प्रधान होगा और मनुष्य का जीवन अगर संघर्ष-प्रधान होगा, तो फिर वह युद्ध-प्रधान होगा। मनुष्य का जीवन अगर युद्ध-प्रधान होगा, तो वह सशस्त्र जीवन हो या निःशस्त्र—वह सत्ता-प्रधान होगा।

आज हम देखते हैं कि राजनैतिक संस्थाएं दूसरी सारी संस्थाओं का नियंत्रण करती हैं। पर, राज्य-संस्था का नियंत्रण शस्त्र-संस्था करती है।

राजनीति के बिना युद्ध असंभव है। क्या युद्ध के बिना राजनीति संभव है? इस प्रश्न का उत्तर पश्चिम वाले खोज रहे हैं।

सत्ता-निरपेक्ष संगठन

इसी प्रकार का उत्तर हमें भी खोजना है। इसलिए हम कहते हैं कि हमारा संगठन सत्ता-निरपेक्ष होना चाहिए। हर एक का सहयोग और हर एक की सहायता लेना परावलंबन नहीं है। लेकिन, किसी के भरोसे जीना, उसका आश्रित बन जाना परावलंबन है। हमारा संगठन सत्ता-निर्भर न हो, राज्यावलंबी न हो और संघर्ष-प्रवण न हो। संघर्ष-प्रवण का मतलब है—प्रतिकाराभिमुख।

सेवा-प्रधान संगठन

प्रश्न है कि अनिवार्य क्या है? अहिंसात्मक प्रतिरोध का, सत्याग्रह का उत्तर यह है कि दुनिया में हमारा प्रतिपक्षी कोई नहीं है। सभी हमारे स्वजन हैं। हम प्रतिकार बुराई का करते हैं, पाप का करते हैं। दोष का करते हैं, व्यक्ति का नहीं। क्या हमने संगठनों में इस चीज को पकड़ा है? इसका नाम है—सेवा-प्रधान संगठन।

सेवा-प्रधान संगठन का मतलब यह नहीं कि वह संगठन विपत्ति और संकट की खोज में हो। कहां दुख है, कहां संकट है, कहां विपत्ति है, इसकी खोज करके जहां-जहां वह होगा—वहां पहुंचेगा। इसे 'सेवा-प्रधान संगठन' नहीं कहते।

समाज में जो सह-जीवन की बुनियादों को मजबूत करता है—वह सेवा-प्रधान संगठन है। वह दुख-दारिद्र्य, दीनता, संकट और आपत्ति का निवारण सहयोग से करता है। इनके निवारण की जो प्रक्रिया है—इसमें भी सहयोग होना चाहिए। यह नहीं कि एक निवारण-कर्ता है, दूसरा उद्धार-कर्ता है और तीसरा शरणागत है। यह भूमिका नहीं है। अन्योन्य सहयोग हो—तभी कोई संगठन सहयोगात्मक संगठन होगा। ❖

दो किस्तों में समाप्य
लंबी कहानी

नहान का त्यौहार

डॉ. आनंद यादव

औरतों का नहाना पूरा हो जाने का अंदाज लगते ही मैं जीना उतर कर नीचे आया। बड़े भैय्या को पहले नहा लेना चाहिए। एक बार बैठक में आदमियों का तांता लगना शुरू हुआ, कि फिर उन के बीच से भैय्या का उठना मुश्किल। इसलिए बड़ी भाभी अपनी धोती घुटनों से ऊपर उसकार कर गुसलखाने में उन्हें नहाने से पहले तेल-उबटन मल रही थी। बड़े भैय्या की थोड़ी स्थूल काया अब भाभी के पूरे काबू में थी। वरना, वर्ष भर बड़े भैय्या अकेले ही ज्यों-त्यों दो-चार लोटा पानी डाल कर, अपने कामों के लिए ग्राम पंचायत के ऑफिस में या कोल्हापुर कोर्ट-कचहरी के लिए, या फिर अपनी ही बैठक में चले जाते। क्योंकि रोजाना ही उनके गुसलखाने में घुसते न घुसते दरवाजे पर कोई न कोई हांक लगाता—'हयं का बड़े भैय्या?'—लेकिन, आज यह सब नहीं चलेगा।

बगल में शांता का बिछावन खाली था। ठंडी के लिए मिला कर ओढ़ी गई दोनों चादरें अच्छी तरह तहकर तकिए पर रखी थीं। गादी पर बिछी चादर इतनी ठीक-ठाक थी, मानो उस पर कोई सोया ही न हो। वह न जाने कब की उठ कर चली गई थी। वह नहीं चाहती थी कि मेरी नींद में कोई खलल पड़े। इसलिए उसने पैरों की आहट भी नहीं होने दी।

मुझे आज जल्दी उठने की कोई जरूरत नहीं थी। जल्दी से आज 'वर्कशाप' पर नहीं पहुंचना था। इसलिए न तो आज लप-झप करके शरीर पर नहाने के लिए पानी डालना था और न ही ज्यों-त्यों पेट में नाश्ता ठूंस कर भाग निकलने की जल्दी थी। कर्मचारियों को अपने-अपने कामों पर लगाने की भी आज बाध्यता नहीं थी। इतवार को जोड़ कर दीवाली पर तीन दिन की छुट्टी लेकर गांव चला आया था। बाहर थोड़ी ठंडी थी। इसलिए बिस्तर पर ओढ़ कर पड़े रहने में ही मजा आ रहा था। सवेरे की उनींदी खुमारी का मजा भी कुछ और ही है।

मैं बिस्तर पर उलटा पड़ा हुआ था। नीचे विवाह में आई हुई औरतों की तरह, नहाने के लिए भीड़-भाड़ और चहल-पहल हो रही थी। बहिनें भी अपने-अपने बाल-बच्चों के साथ पीहर से आई हुई थीं। असल बात तो यह है कि शांता और शिवाजी की औरत को दीवाली पर अपने-अपने पीहर पहुंचाने का तय हुआ था। दोनों का ब्याह हुए दो वर्ष ही हुए हैं, लेकिन बाद में यह निर्णय बदल दिया गया।

परसों ही तो बड़े भैय्या की पचासवीं सालगिरह थी। हम पांचों भाइयों की ससुरालों को पत्र लिख कर निमंत्रण भेज दिए थे और यह

मिलना चाहिए—तेल-मालिश और गरम पानी।'—भाभी का एक हाथ भैय्या की गर्दन पर था और एक हाथ से वह पीठ पर घिस-घिस कर तेल मल रही थी।

—'जरा कड़-कड़ाता गरम दो भगौना पानी ले आ तो, ओ दीवान साब!'—उसने गुसलखाने से ही 'बच्चो भाभी' को जोर से हांक लगाई। बड़े भैय्या तो एकदम उकड़ूं, घुटनों पर अपनी ठुड्डी टिकाए बैठे थे—चुपचाप।—'जो हो सो हो'—आज वे गुसलखाने से जल्दी नहीं भागेंगे। उन्हें यह पता है कि आज के दिन इस शरीर पर उनकी पत्नी का जन्मसिद्ध अधिकार है।

चाय पीते-पीते मैं यह सब देख रहा था।

सामने ही नहाई हुई शांता इधर-उधर घूम रही थी। चाय देने के लिए आई थी। लगा था कि मानो केवड़ा की बगिया से हवा का कोई तेज झोंका चला आया हो। कोल्हापुर में रोज नहाने के बाद वह अपने घुटनों तक लंबे और बेहद लुभावने बालों को पीठ पर खुले छोड़ लेती थी। साड़ी के आंचल को बालों के नीचे कंधे पर ही रहने देती थी। उसके इतने लंबे बाल मां को अलौकिक लगते थे। मां ने अपनी ममता से उसे प्रसन्न कर दिया था और जब तक सभी आदमियों का नहाना पूरा नहीं हो जाता, तब तक बालों को कपड़े में समेट कर साड़ी बांध रखने के लिए कह दिया था। उसने अपनी धोती का आंचल सिर पर ओढ़ लिया था। जिससे वह आज और भी 'खानदानी' लग रही थी। मैं क्षण भर विचलित हो गया। साल भर से इस 'सौंदर्य' पर काम-काज के भार की मलीनता का पुट चढ़ता जा रहा था। आज उस सौंदर्य के प्रकाश का दिन था।

चाय पी कर मैं उसी जगह मां से बतकई में लगा हुआ था। शांता ने पीतल का आरती-दीप मांज लिया था। रुई लेकर बत्तियां बना ली थीं और संदूक में से चांदी की दो थालियां निकाल कर आरती सजाने की तैयारी कर रही थी।

तेल-उबटन के कारण मां के चेहरे पर रौनक आ गई थी। नहाने के बाद मां को कोई काम तो था नहीं। वह बड़े भैय्या की लाई हुई नौ गजी नई धोती पहन कर सज-धज कर बैठी थी। हाथों की सोने की मोटी-मोटी चूड़ियों को सुनार के यहां से हाल ही में उजलवा लिया था। गले में सुनहरी-मुंहरों की हमेल हार और चिताक (एक प्रकार का सोने का आभूषण) से उसका गला भरा हुआ था। बूढ़े कपाल पर लाल-लाल रोली की सौभाग्य सूचक मांग चमचमा रही थी। शरीर से सुगंधित उबटन की गंध उठ रही थी।

लेकिन, यह सब बाहरी लग रहा था। उसके व्यक्तित्व से मेल नहीं खा रहा था। वह तो थी जन्म-जात किसान औरत। खेतों की माटी में ही उसकी सारी उम्र बीत गई। जैसे वर्षा धरती को सीधे तरीके से नहला देती है, उसी तरह से मां को असनान कराना था। बड़े घरों से आई बहुओं का हठ ही ठहरा कि अनिच्छा से लगाया गया तेल और उबटन भी उसके शरीर पर फब रहा था।

बड़ी भाभी ने अब बड़े भैय्या को नहला-धुला कर छोड़ दिया। वह अब बच्चों के नहाने में लग गई।

बच्चो भाभी दादा से कपड़े निकालने के लिए कह रही थी। दोनों का रूप देख कर नीरा भाभी और शिवाजी की औरत बाहर की ओर सटकने वाली थीं। दोनों ही अपने-अपने मुंह में हंसी दबाए हुए थीं। शांता को उनकी इस चुहल-शैतानी का पता था। वे क्यों हंस रही हैं, यह उसे मालूम था। उनकी ओर मां का ध्यान नहीं था। लेकिन, मेरी नजर में सब था। फिर भी मैं किसी को कुछ नहीं कह सकता था। घर भर में दादा का भाग्य ही अलग था। बड़े भैय्या के बाद हीरा जीजी का जन्म हुआ और उसके बाद दादा पैदा हुए। इसलिए बड़े भैय्या की पढ़ाई जारी रहने के कारण दादा को पिताजी ने खेती-बाड़ी की देख-भाल के काम में लगा लिया। दादा अनाड़ी के अनाड़ी ही रह गए। इसीलिए बड़े भैय्या, बीच के भैय्या, मेरी और शिवाजी की पढ़ाई-लिखाई पूरी हो सकी।

बांध का पानी उस समय नहीं था। लेकिन, बांध का पानी आने लगा था और दादा हाथी की तरह शंकर के साथ काश्तकारी में पिल पड़े थे। लक्ष्मी मैय्या की मेहरबानी भी होती गई। पांच एकड़ के चक में बीस एकड़ की पैदावार होने लगी। ऐसा नहीं है कि बड़े भैय्या की सहायता नहीं हुई हो। परंतु, आज इस घर का सारा वैभव, ठाट-बाट इस हाथी की पीठ पर सजी हुई अंबारी के समान है। इस सचाई का पता पराए घर से आई इन लुगाइयों को बिल्कुल नहीं है। ये तो बस इस अंबारी में बसेरा करने चली आई हैं। नीचे किसकी रीढ़ की हड्डी छिल रही है, इसका इन्हें क्या पता···!

··· दादा को भी इसका पता नहीं है। वह तो सिर्फ

काम में लगे रहते हैं। एक चक पर वे और दूसरे पर शंकर। वे तो बड़े भैय्या के हुकुम की तामील करते हैं, दोनों ही। और, शिवाजी—वह तो सिर्फ थानेदारी ही करता फिरता है—इधर-उधर। उसे घर-गृहस्थी और दुनियादारी का क्या पता?

'बच्चो भाभी' भी बेचारी दादा के ही साथ आ जुड़ी—बड़ी मेहनती और सीधी-सादी। गाय-बछड़ा द्वादशी के दिन दादा और 'बच्चो भाभी', दोनों ने ही दोनों बैल और चारों भैंसें झटा-पट रगड़-रगड़कर नहला दीं। दादा दोनों हाथों से जानवरों के शरीर को भींड़-भींड़ कर धो रहे थे। और 'बच्चो भाभी' हौद में से डब्बे में पानी भर-भर कर डालती जा रही थी—धड़ाधड़। आज दादा का नहाना भी 'बच्चो भाभी' ने उसी तरह किया। दादा ने बैलों को जिस तरह रगड़ा था, उसी तरह 'बच्चो भाभी' ने दादा की रगड़ाई की थी। भरा-भर शरीर पर लोटे से पानी उंड़ेला गया—दादा ने भी ठंडे-गरम पानी की कोई चिंता नहीं की। जन्म भर तो रोजाना बावड़ी के ठंडे पानी से नहाते हैं। आज गरम पानी का असनान है, तो क्या फरक पड़ता है—थोड़ा गर्म हुआ तो और ठंडा हुआ तो! आरती उतारने से पहले शरीर पर थोड़ा पानी डाल लेना चाहिए, दादा इस भावना से नहा रहे थे और 'बच्चो भाभी' भी इसी भावना से उन्हें नहला रही थी—झट-पट। इसलिए ही वे-खानदानी औरतें इन दोनों के रूप पर हंस रही थीं।

बीच के भैय्या ने, लगता है उस दूसरे गुसलखाने में अपना नहाना निबटा लिया है। शिवाजी और उसकी औरत उसी गुसलखाने में चले गए हैं और बचपना करने लगे हैं। पता नहीं शिवाजी को क्या उचंग छूटी कि उसने इमली के सिर पर दो लोटा पानी उंड़ेल दिया। हमेशा ही धतूरे के बीज चबाई हुई सी लगती है इमली 'हीं ऽ-हीं ऽ' करती हुई बाहर निकल आई।

—'क्या है, ओ छोटे लालाजी?'—बड़ी भाभी ने शिवाजी को पूछा।

'··· ये औरत है या औरत का स्वांग, भाभी! बस हंसती रहती है पागलों की तरह। कैसे नहाया-नहलाया जाता है, इसे कुछ पता ही नहीं है। कहीं भी फेंक रही है—पानी। इसलिए मैंने इसे बताया है कि कैसे नहलाया जाता है।'

आखिर में भाभी ने खुद इमली को अपने साथ लेकर शिवाजी को नहलाया। बड़ी भाभी के लिए तो वह बेटा जैसा ही जो ठहरा।

उसी गुसलखाने पर फिर सभी बहिनें अपने बच्चों का नहाना-धोना निबटाने लगीं। हल्ला-गुल्ला मचाते हुए नहाना-धोना चल रहा था। तेल-उबटन सुगंधित होते हुए भी उन बालकों को तिलकटपना-तेल की चिपचिपाहट नहीं चाहिए थी। उनकी मैय्या उन छोटे बालकों के सिर पर इतना जल्दी-जल्दी पानी उंड़ेल रही थीं कि पानी की धारा में उनका जी घुट रहा था। कड़क गर्म के सेक से बालक चिल्ला रहे थे। सभी बालक अन्य बालकों के सामने चड्डी उतारने में लजा रहे थे। लेकिन, उनकी मैय्याएं बांह पकड़ कर जबर्दस्ती उनकी चड्डियां उतार रही थीं। दूसरे लड़के खिल-खिलाकर हंस रहे थे, लड़कियां भी 'फिळ-फिळ' कर रही थीं।··· एक प्रकार का अनोखा मजा चल रहा था। ❖

अनुवाद : डॉ. केशव प्रथमवीर

क्रमशः शेष अगले अंक में

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

आज हम धर्म को भूल गए हैं। हमारी उपासना के केंद्र-बिंदु बदल गए हैं। विज्ञान और तकनीक की प्रगति ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया है, वह सभ्यता है—भौतिक मूल्यों की। इस सभ्यता ने पदार्थ को महत्त्व दिया है, मनुष्य को गौण बना दिया है। परिणाम यह हुआ है कि भौतिक सभ्यता ने नैतिक मूल्यों का हनन कर दिया है। धर्म का ह्रास भी उसी की एक प्रक्रिया है। धर्म प्रखर रहेगा तो नैतिक मूल्यों को आंच नहीं आ सकती। यदि मनुष्य को सुरक्षित रहना है तो उसे धर्म की रक्षा करनी ही होगी।

—यशपाल जैन

अनुशासन : देता है नव ऊर्जा, स्फूर्ति और संयमभरी रचनात्मकता

मुनिश्री सुखलाल

हर व्यक्ति ऊर्जा का एक अटूट खजाना होता है और अध्यात्म की दृष्टि से तो यह खजाना अनंत है, पर यह एक आध्यात्मिक अनुभूति का ही विषय है। अलबत्ता मनोविज्ञान भी यह मानने लगा है कि व्यक्ति में असीम संभावनाएं निहित हैं। यदि हम अध्यात्म या धर्म की दृष्टि से इन संभावनाओं पर विचार करें तो इसके लिए योग्य गुरु या मार्ग-दर्शक अत्यंत जरूरी है। यदि सम्यक् अनुशासन न रहे तो ऊर्जा के दुरुपयोग होने की संभावनाएं बनी रहती हैं। धर्म के आस-पास जो संप्रदाय खड़े हैं, वे सम्यक् अनुशासन की अनुपस्थिति के ही परिणाम हैं। ऐसे में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएं ऊपर आ उठती हैं तथा धर्म और संप्रदाय पर्दे के पीछे चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में कई बार व्यक्ति की स्वयं की ऊर्जा भी छितर-बिखर कर उसके अपने लिए भी घातक बन सकती है।

अनुशासन तेरापंथ की एक विशिष्ट उपलब्धि है। आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ की नींव में अनुशासन का ऐसा शिलाखंड रखा है, जो इस संगठन को निरंतर सुदृढ़ आधार प्रदान कर रहा है और आचार्यश्री भिक्षु के बाद के आचार्यों ने भी उनके अनुभवों और उस परंपरा का पूरा-पूरा उपयोग किया है। सभी ने इस बात को गहराई से समझा व पकड़ा है कि किसी भी सूरत में अनुशासन कमजोर नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि छह मुनियों के लिए निर्मित संविधान आज सात-आठ सौ साधु-साध्वियों को भी एक डोर में बांधे हुए है।

तेरापंथ का मर्यादा-महोत्सव अनुशासन-पर्व के रूप में उसी संविधान की स्मृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अनुशासन ही वह डोर है जो हजारों-हजार लोगों को हजारों-हजार बाधाओं के बावजूद हजारों-हजार किलोमीटर की दुर्द्धर्ष दूरी को लांघ कर उन्हें अपने अधिष्ठाता के उपपात में खींच लाती है। निश्चय ही मर्यादा-महोत्सव तेरापंथ के शुभ्र आकाश में एक ऐसा ध्रुव-तारा है जो कठिन क्षणों में उसके हर सदस्य का दिशा-दर्शन कर सकता है। कुछ लोगों का अभिमत है कि अनुशासन की कठोरता प्रतिभाओं को विकसित होने से वंचित करती है, पर ऐसे अनुशासन में निष्ठुरता रहती है। जबकि आत्मीयता से सराबोर अनुशासन सदा ऊर्जा के विकास में सहायक होता है और अनुशासन विहीन ऊर्जा नुकसान भी कर सकती है।

तेरापंथ संगठन ने जो स्वस्थ दीर्घजीविता प्राप्त की है, वह आचार्यश्री भिक्षु की अनुशासन-प्रवण दृष्टि का ही परिणाम है। यह अनुशासन अब एक स्वस्थ, सुदृढ़ और स्वतःस्फूर्त परंपरा बन गई है

और किसी की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के लिए कोई अवकाश अब यहां शेष नहीं रहा है।

यह सही है कि संयम की साधना से ही रचनात्मकता की फसल लहलहा सकती है। मर्यादा-महोत्सव इस सत्य का एक सटीक उदाहरण है। अनेक साधकों ने इस ध्रुव को देख कर ही अपने जीवन-पथ का संदर्शन किया है। यह महोत्सव अब केवल संत-साध्वियों के परिचय का कुंभ-मेला ही नहीं है, अपितु चित्त-समाधि का एक बहुत बड़ा आलंबन भी यह अवसर प्रदान करता है। तेरापंथ के एक आचार, एक विचार एवं एक आचार्य की परंपरा को अक्षुण्ण रखने में मर्यादा-महोत्सव का बहुत बड़ा योग है। इसीलिए महोत्सव के अवसर पर तत्समय के आचार्यश्री के सान्निध्य में विशेष गोष्ठियां होती हैं, चर्चाएं होती हैं और चर्चित विषयों के आधार पर 'संघ की सुव्यवस्था' के लिए विशेष निर्णय लिए जाते हैं।

मर्यादा-महोत्सव का समय वस्तुतः साधु-साध्वियों के लिए नव ऊर्जा, स्फूर्ति और स्नेह-सौहार्द प्राप्त करने का अनुपम समय होता है। जब संघ के आचार्य अपने शिष्य के मस्तक पर स्नेहिल हाथ रख उसे वात्सल्य प्रदान करते हैं और गुरु-शिष्य का वह मिलन क्षण जब आता है, तो वे क्षण आत्मानंद की अनुभूति कराने वाले होते हैं। अपने आचार्य (अधिष्ठाता) के सम्मुख विगत वर्ष का कार्य-विवरण (रिपोर्ट) प्रत्येक आगीवान (सिंघाड़पति) प्रस्तुत करता है और उल्लेखनीय या विशेष कार्य करने वाले समूह तथा उनके अग्रणी को गुरु पुरस्कृत भी करते हैं। ठीक इसके बरअक्स कहीं किसी से मर्यादा की अनुपालना में यदि त्रुटि हुई हो, तो उसे प्रायश्चित्त भी दिया जाता है।

साधु-साध्वियों के विहार और चातुर्मास की नियुक्ति आचार्य द्वारा ही होती है। कौन साधु या साध्वी किस दिशा में विहार या चातुर्मास करेगा, इसका निर्णय आचार्य को ही करना होता है और माघ शुक्ला छठ के दिन हजारों श्रद्धालु नर-नारी देश के कोने-कोने से इस दृश्य के साक्षी बनने महोत्सव स्थल पर पहुंचते हैं। वे भी आचार्यश्री से अपने-अपने क्षेत्र के लिए चातुर्मास की अर्ज करते हैं और आचार्यश्री भी उनकी बात पर पूरा ध्यान देते हैं। जब आचार्यश्री द्वारा चातुर्मास की घोषणा की जाती है और जब अग्रणी साधु-साध्वियों का नाम आता है तो वे विनत-भाव से खड़े हो जाते हैं। अग्रणी 'तहत' कहकर प्रसन्न मुद्रा में वंदना करते हैं और अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। आपा-धापी वाले इस युग में अनुशासन का यह अनूठा दृश्य होता है और लाखों आंखें इसे देख विभोर हो उठती हैं। साधु-साध्वियों का समर्पित होकर आज्ञा को शिरोधार्य करना सचमुच आश्चर्य की बात है।

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री द्वारा समूचे संघ को विशेष आदेश-निर्देश भी दिए जाते हैं। भिक्षु स्वामी द्वारा लिखित मर्यादाओं के उस पत्र का भी वाचन किया जाता है, जो स्वयं स्वामीजी की हस्तलिपि में आज भी सुरक्षित है। सभी साधु-साध्वियां दीक्षा-क्रम में खड़े होकर उन मर्यादाओं को उच्चारित करते हैं और अपनी पूर्ण आस्था को दोहराते हैं, स्वीकृत करते हैं। उसके पश्चात् समयानुसार सभी 'ग्रुप' अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानों की ओर आगामी कार्यक्रम के अनुसार विहार करते हैं।

हर व्यक्ति ऊर्जा का एक अटूट खजाना होता है और अध्यात्म की दृष्टि से तो यह खजाना अनंत है, पर यह एक आध्यात्मिक अनुभूति का ही विषय है। अलबत्ता मनोविज्ञान भी यह मानने लगा है कि व्यक्ति में असीम संभावनाएं निहित हैं। यदि हम अध्यात्म या धर्म की दृष्टि से इन संभावनाओं पर विचार करें तो इसके लिए योग्य गुरु या मार्ग-दर्शक अत्यंत जरूरी है। यदि सम्यक् अनुशासन न रहे तो ऊर्जा के दुरुपयोग होने की संभावनाएं बनी रहती हैं। धर्म के आस-पास जो संप्रदाय खड़े हैं, वे सम्यक् अनुशासन की अनुपस्थिति के ही परिणाम हैं। ऐसे में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएं ऊपर आ उठती हैं तथा धर्म और संप्रदाय पर्दे के पीछे चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में कई बार व्यक्ति की स्वयं की ऊर्जा भी छितर-बिखर कर उसके अपने लिए भी घातक बन सकती है। तेरापंथ के आद्य-प्रणेता आचार्यश्री भिक्षु इस सत्य से पूर्ण रूप से परिचित थे।

उनका जन्म जैन परिवार-परंपरा में हुआ था और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी उसी परिवेश में हुई थी। उस समय जैन परंपरा में छोटे-छोटे संप्रदायों का जाल बिछा था। जिससे न तो मुनिजनों की योग्यता का सम्यक् उपयोग हो पाता था और न जैन धर्म भी सही दिशा में प्रस्थित हो पा

रहा था। ऐसी स्थिति में अनुशासन का बहुत बड़ा महत्त्व हो जाता है। एक बार तो उन्हें यह भी प्रतीत होने लगा कि वे जिस तरह की संघीय साधना को रूपायित करना चाहते हैं, वह शायद संभव नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने आपको अपनी व्यक्तिगत साधना में खपाने का निश्चय कर लिया, पर अनुशासन को शिथिल करना उन्हें जरा भी मंजूर नहीं हुआ। उन्होंने सोचा—मेरे साथ यदि बहुत सारे साधु हो भी जाएंगे और वे अनुशासित नहीं हुए तो उनसे कोई फायदा नहीं है। दूसरी ओर अनुशासित रूप में यदि थोड़े भी साधु होंगे तो वे बहुत काम कर सकेंगे।

सचमुच आचार्यश्री भिक्षु के पास जो भी साधु आए, उन्होंने उनकी कड़ी कसौटी की। यही कारण है कि उनके आस-पास समर्पित साधकों की एक टीम खड़ी हो सकी, पर यह तभी संभव हो सका—जब उन्होंने अनुशासन की लक्ष्मण रेखा को स्वीकार किया। यों मुनि तिलोकचंदजी, मुनि चंद्रभाणजी जैसे उद्‌भट विद्वान भी आचार्यश्री भिक्षु के शिष्य-मंडल में आए, पर वे उनके साथ ठेठ तक नहीं निभ सके। उनमें बहुत बड़ी ऊर्जा थी, पर आचार्यश्री भिक्षु ने अच्छी तरह से समझ लिया था कि अनुशासन के बिना ऊर्जा का रचनात्मक उपयोग नहीं हो सकता। उनकी अनुशासना को जो लोग नहीं सह पाए, वे अलग छिटक गए।

आचार्यश्री भिक्षु तेरापंथ के अनुशासन के लिए प्रारंभ से ही सावधान थे, पर मर्यादा-महोत्सव को महोत्सव के रूप में स्थापित करने की शुरुआत चतुर्थ आचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्यश्री) से हुई। आर्चाश्री भिक्षु के शासनकाल में संघ का बहुत बड़ा विस्तार नहीं हुआ था। इसलिए साधु-साध्वियां सहज ही आचार्य के उपपात में एकत्र हो जाते थे। जयाचार्यश्री के शासनकाल में संघ का अच्छा विस्तार हो गया था। साधु-संत दूर-दूर तक विहार करने लगे थे। पूर्व में यह जरूरी भी नहीं था कि सभी श्रमण-श्रमणी एक समय पर आचार्य का सान्निध्य प्राप्त करें ही। जयाचार्यश्री ने इस दिशा में नए प्रयोग किए। सहज ही सारे संघ में इससे एक अनुकूल वातावरण बनने लगा और साधु-साध्वियां चातुर्मास संपन्न कर आचार्य के उपपात में आने लगे।

फिर तो यह मर्यादा ही बना दी गई कि चातुर्मास संपन्न होने के बाद साधु-साध्वियां अनिवार्य रूप से उसी दिशा की ओर प्रस्थान करें जहां आचार्य का विहरण हो। जब साधु-साध्वियां इस तरह गुरु-दर्शन के लिए उपस्थित होने लगे तो संवत 1921 में जयाचार्यश्री ने 'मर्यादा-महोत्सव' की विधिवत स्थापना की घोषणा कर दी। तेरापंथ का पहला मर्यादा-महोत्सव बालोतरा में हुआ। फिर तो अशक्त, बीमार तथा बहुत दूरी पर प्रवास करने वाले साधु-साध्वियों के सिवाय सभी को माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आचार्य के सान्निध्य में उपस्थित होना अनिवार्य हो गया।

जहां संघ (संगठन) है, वहां नए विचार व नए प्रसंग भी उपस्थित होते ही हैं। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर जब सब साधु-साध्वियां एकत्र होते हैं, तो उन प्रसंगों पर विचार करने का भी एक समुचित अवसर मिल जाता है। विचार-मंथन की दृष्टि से हर श्रमण-श्रमणी को यह अधिकार है कि वह अपनी बात आचार्य के सम्मुख प्रस्तुत करे। अनेक विषयों पर विचार करने के लिए स्वयं आचार्य भी साधु-साध्वियों की छोटी-छोटी समितियां बना देते हैं और उन प्रसंगों पर इन समितियों में सार्थक चर्चाएं होती हैं। उसके निष्कर्ष आचार्य के सामने पेश किए जाते हैं और उपयुक्तता के आधार पर आचार्य उन्हें मान्य घोषित कर सकते हैं।

मर्यादा-महोत्सव माघ शुक्ला सप्तमी के दिन ही मनाने का मूल कारण यह है कि इसी तिथि को संवत 1859 में आचार्यश्री भिक्षु ने अपने हाथों से तेरापंथ का अंतिम 'मर्यादा-पत्र' लिखा था। वह 'मर्यादा-पत्र' (लिखत) आज भी सुरक्षित है। उस पत्र पर तत्कालीन साधुओं के हस्ताक्षर भी अंकित हैं। इस 'मर्यादा-पत्र' को मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर सब लोगों को दिखाने की एक लंबी परंपरा है।

मर्यादा-पत्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाने की दृष्टि से संघ के नवम आचार्यश्री तुलसी ने उस पत्र को 'पट्ट' पर विधिवत स्थापित करने की नव-परंपरा शुरू की। प्रारंभ में शायद 'मर्यादा-महोत्सव' समारोह एक ही दिन का होता था, पर कालांतर में इसे व्यापक स्तर पर मनाया जाने लगा। इस दृष्टि से इसे त्रिदिवसीय बना दिया गया। वसंत-पंचमी के दिन से ही मर्यादा-महोत्सव शुरू हो जाता है।

वसंत-पंचमी का गणित की दृष्टि से भी महत्त्व है। आचार्य उस दिन सबसे पहले पदासीन वृद्ध साधु-साध्वियों के सेवा केंद्रों पर सेवा देने वालों की नियुक्ति करते हैं। तेरापंथ में सेवा देने और लेने का सब सदस्यों को पूरा अधिकार है। जहां रुग्ण एवं वृद्ध साधु सेवा ले सकते हैं, वहीं हर सशक्त साधु के लिए तीन वर्ष सेवा देना भी अनिवार्य है। इससे संघ सुदृढ़ बनता है और इसीलिए तेरापंथ के हर साधु-साध्वी अपने भविष्य के प्रति निश्चिंत रहते हैं। यह निश्चिंतता भी मर्यादा-महोत्सव के साथ गहराई से जुड़ गई है।

माघ शुक्ला सप्तमी 'मर्यादा-महोत्सव' का मुख्य दिवस है। इस दिन आचार्यश्री भिक्षु द्वारा निर्मित मर्यादा पत्र का सार्वजनिक वाचन होता है। सभी सदस्य संघ एवं संघपति के प्रति अपनी भावांजलि अर्पित करते हैं। अनुशासन एवं संगठन की सूत्रबद्धता का वह एक नयनाभिराम दृश्य होता है।

तेरापंथ की संघीय प्राणप्रतिष्ठा में जयाचार्यश्री का चिंतन और पराक्रम एक महान अवदान है। आचार्यश्री भिक्षु, जयाचार्यश्री तथा आचार्यश्री तुलसी के दूरदर्शी उपक्रमों से यह संघ आकार में छोटा होते हुए भी प्रकार में बहुत बड़ा है। जब-जब इस संघ के प्रकार की प्रशस्ति होती है, तो अनायास सभी महान आचार्यों की स्मृति हो आती है। साथ ही साथ संघ के लिए निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का भी स्मरण हो आता है। इसी के साथ सारे संघ को इस अवसर पर समर्पण-भाव का एक मूल्यवान सूत्र मिलता है, नई ऊर्जा मिलती है।

❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : (033) 22357956, 22343598, फैक्स : 22343666

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की 97वीं वार्षिक साधारण सभा की सूचना

मान्यवर,

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की 97वीं वार्षिक साधारण सभा आगामी माघ शुक्ल षष्ठी 2067, बुधवार दिनांक 9 फरवरी, 2011 को सायं 6 बजे आचार्यश्री महाश्रमण प्रवास स्थल, राजलदेसर (राजस्थान) में होगी, जिसमें निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श होगा—

- ❑ महासभा की 96वीं वार्षिक साधारण सभा की कार्यवाही का पठन एवं स्वीकृति।
- ❑ महासभा की 97वीं वार्षिक साधारण सभा के अवसर पर महामंत्री के प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- ❑ महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित 1 अप्रैल, 2009 से 31 मार्च, 2010 तक के आय-व्यय लेखे की स्वीकृति।
- ❑ महासभा के आगामी एक वर्ष के लिए अंकेक्षक की नियुक्ति।
- ❑ आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- ❑ विविध : अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

भवदीय

भंवरलाल सिंघी

महामंत्री

25 दिसंबर, 2010

कोलकाता

सभ्यता और संस्कृति : कालगत अजस्र प्रवाह

पृष्ठ 32 का शेष

शिक्षण-व्यवस्था से उस शिक्षा की व्यवस्था की तुलना नहीं की जा सकती। परंतु, आज भी संपन्न वर्ग के लिए ऐसे स्कूल हैं, जिनमें बालक परिवार से अलग होकर शिक्षा पाता है। बेशक यह शिक्षा हमारी संस्कृति तथा हमारी सभ्यता के आधार पर नहीं होती। यहां 'अंग्रेजी संस्कृति' के संस्कार दिए जाते हैं। दासात्मक अनुकरण के ये आदर्श 'गुरुकुल' हैं।

आश्रम

आयु तथा सांसारिक जीवन से पैदा होने वाले प्रभाव तथा आंतरिक उत्क्रमण से उनका सामंजस्य आश्रमों के माध्यम से वैदिक साहित्य में मिलता है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम मनुष्य की जन्म से मृत्यु तक की जीवन यात्रा का एक प्रकार से सांस्कृतिक नियोजन है। आश्रम की संकल्पना का आधार निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। यह 'हवाई' नहीं है। इसमें जीवन के ठोस यथार्थ को स्वीकार करते हुए उस चिंतनपरक व्यावहारिक दृष्टि को प्रस्तावित किया गया है, जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक निर्मिति को इस तरह का सहयोग दे कि उसमें विकृतियां, विक्षेप तथा विचलन नहीं पैदा हों। आश्रमों की अवधारणा में जो दूरदृष्टि है और व्यक्ति, समाज तथा विश्व की कल्याण कामना को सम्मिलित किया गया है—वह इतनी सकारात्मक है कि आज भी रूपांतरित रूप में विभिन्न अनुशासनों (विषयों) का आधार-चिंतन बनी हुई है। जिन्होंने पदार्थवादी, विज्ञानवादी होने का दावा किया, वे भी इसको स्वीकार कर रहे हैं।

ध्यान रहे, मनुष्य पदार्थ नहीं है, वह विवेकशील प्राणी है। हम पशुजगत के अध्ययन में यह पा रहे हैं कि उनमें मात्र बुनियादी प्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट) की क्रियावत्ता नहीं है। पर, किसी न किसी अंश में उनकी चेतना तथा सृजन शक्ति भी कार्य करती है। जरा सोचें कि बुलबुल एक विशिष्ट प्रकार का घोंसला क्यों बनाती है तथा बया बिल्कुल दूसरी प्रकार का ? हम यह भी सोच सकते हैं कि जो वानर जातियां विकास क्रम को पार करते हुए मनुष्य तक पहुंचीं—उन्हीं जातियों के कपि अथवा बंदर अब भी क्यों हैं?

किसी जाति अथवा वर्ग के चिंतन तथा आस्था को नकारने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य को जैन दर्शन के 'स्याद्वाद' की दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य का एक पक्ष अनुभूतिपरक तथा सृजनात्मक है। यह पक्ष कला-स्वभावी है। इसलिए यदि लोकातीत आलंबन अथवा 'विषय' की कल्पना करता है, तो यह उसकी आस्था, श्रद्धा है।

हम देख चुके हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, यज्ञ, यम, नियम का पालन स्नातक को व्रतों तथा महाव्रतों के रूप में निभाना पड़ता है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने में भी उन व्रतों की निरंतरता बनी रहती है। उनके अनुसार गृहस्थ पालन करते-करते व्यक्ति प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो जाता है। अब तक वह सारी मर्यादाओं का पालन करता हुआ पार्थिव जीवन के उत्तरदायित्व निभा चुका होता है। अतः उसकी आध्यात्मिकता का प्रबल होना तथा प्रार्थना-आराधना की उत्कट गहराई को अनुभव करने की इच्छा होना स्वाभाविक है।

वानप्रस्थी गृहस्थ के मोह को छोड़कर अंतःसाधना के लिए पत्नी के साथ अथवा पत्नी को अपने पुत्रों के पास छोड़कर नगर तथा परिवार से दूर वन में चला जाता है ताकि उसकी साधना में गृहस्थी का मोह बाधक न हो। यह सांसारिकता से मुक्त होने तथा अद्वैत ब्रह्म (ईश्वर) को अनुभूत करने की साधना का प्रथम सोपान है।

साधना में परिपक्वता आने पर अब तक जिन थोड़ी-सी सुविधाओं का उपयोग कर रहा था या स्मृतियों तथा पूर्व अभ्यस्तता के कारण थोड़ा-बहुत लगाव अथवा मोह था, उससे भी वह मुक्त होने की साधना करता है। सांसारिक कर्म रहे, अब सिर्फ उस लोकातीत अक्षर ब्रह्म (शक्ति) से वह तादात्म्य पाने की स्थिति तक पहुंचना चाहता है। संन्यास में आत्मोत्थान की जिस दशा को वह प्राप्त कर ले—वही उसका 'निर्वाण' है। वह देहातीत होकर आत्म-संचरण में जाने की चाह रखने लगता है। देह को तो छूटना ही है। इसलिए मृत्यु भी उस परम की अनुभूति के साथ शांतिप्रद है, मोहशून्य तृप्ति है, अद्वैत में विलय होने की आनंदानुभूति है।

न लोकैषणा रही, न पुत्रैषणा, न वित्तैषणा रही, न वह देह जिसने न चाहते हुए भी प्रपंच झेला। माया ही तो था, सो मुक्त हो गया। ❖

तीन बाल-बोध कथाएं

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

वह आदमी यह कहकर अपनी राह चला गया। बात यहीं खत्म हो गयी। पर, बात यों ही कहां खत्म होती है? बात में से बात भी तो निकलती है। इस बात की भी भीतरी बात यह है कि आदमी उन्नति करता है—अपनी कोशिशों से, अपने प्रयत्नों से। कोशिश होती है—इरादों से, संकल्पों से। इरादे, संकल्प मजबूत होते हैं—मन से। मन मजबूत होता है—ऊंचे विचारों से। तो सारी उन्नतियों की जड़ है—ऊंचे विचार। यह मतलब था, उस आदमी की झिड़की का। •

सेठजी ने आगे कहा—'रुपए की बात भी वैसी ही है, जैसी आदमी की। जो आदमी अकेला रहता है—अपने बुरे स्वभाव के कारण जिसकी किसी से नहीं बनती, वह कभी किसी काम में सफल नहीं होता और जो अपने अच्छे स्वभाव के कारण चार आदमियों के साथ मिला-जुला रहता है, वह हर काम में सफल हो जाता है। कहावत है कि—अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता?' •

जीते हुए विद्वान ने शांति से कहा—'आपकी इस बात से मेरी हीनता या नीचता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आप यह तो कह नहीं रहे कि मैं पालिश ठीक-ठीक नहीं करता था और मेरे ग्राहक मुझसे नाराज रहते थे या मेरे काम को पसंद नहीं करते थे।' •

एक आदमी पेड़ के नीचे बैठा रोटी खा रहा था। उसके कपड़े-लत्ते फटे हुए थे और साफ दिखता था कि कोई गरीब मजदूर है। रोटी उसकी रूखी थी। कोई सब्जी या चटनी उस पर नहीं थी, पर उसका खाने का तरीका बड़ा अजीब था। वह रोटी का टुकड़ा तोड़ता, उसे ही पूरी रोटी के ऊपर फेरता—तब उसे खाता। खाते समय वह खूब 'सी-सी' करता। ऐसे मुंह बनाता कि जैसे तेज मिर्च-मसाले की किसी सब्जी से रोटी खा रहा हो।

एक दूसरे आदमी ने उसे ऐसा करते हुए देख लिया। वह सोचने लगा कि यह इतनी बढ़िया सब्जी कहां से ले आया? और, किस चीज की सब्जी है—यह?

वह छिपते-छिपते पेड़ के नीचे पहुंचा और वहां खड़ा होकर उसे देखने लगा, पर उसकी रोटी पर कोई सब्जी ही नहीं थी, तो दिखाई कहां से देती! तब वह उसके सामने आ गया। पूछा—'जब तेरी रोटी रूखी है, तो तू उस पर टुकड़ा क्यों फेरता है? और, फिर 'सी-सी' क्यों करता है?'

उसने कहा—'रोज मैं अपने घर से रोटी और हरी-मिर्च लाता रहा हूं, पर आज हमारे घर में मिर्च नहीं थी और रूखी रोटी अच्छी नहीं लगती थी। इसलिए मैं रूखी रोटी पर अपना टुकड़ा फेरकर यह विचार कर लेता हूं कि इस पर मिर्च रखी है और फिर उसके स्वाद का विचार बनाने के लिए 'सी-सी' करता हूं।'

उस आदमी ने झिड़ककर उससे कहा—'तू नंबर एक का मूर्ख है। अरे मूर्ख! पहले तो तेरी यही कमी है कि तू इतनी कमाई ही नहीं कर सकता कि अपने परिवार के लिए दाल-सब्जी का प्रबंध कर सके। खैर, यह भी छोटी बात है, पर बड़ी बात यह है कि तू अपने

विचारों को ऊंचा नहीं रख सकता। अरे कमबख्त! जब विचार ही करना है, तो खाली मिर्च का क्यों करता है? सब्जी का कर, अचार का कर, मुरब्बे-मिठाई का कर, दही-रायते का कर!'

वह आदमी यह कहकर अपनी राह चला गया। बात यहीं खत्म हो गयी। पर, बात यों ही कहां खत्म होती है? बात में से बात भी तो निकलती है। इस बात की भी भीतरी बात यह है कि आदमी उन्नति करता है—अपनी कोशिशों से, अपने प्रयत्नों से। कोशिश होती है—इरादों से, संकल्पों से। इरादे, संकल्प मजबूत होते हैं—मन से। मन मजबूत होता है—ऊंचे विचारों से। तो सारी उन्नतियों की जड़ है—ऊंचे विचार। यह मतलब था, उस आदमी की झिड़की का।

इसे एक उदाहरण से समझें। मान लीजिए, एक विद्यार्थी अपनी परीक्षा में फेल हो गया। अब उसके विचार यदि कमजोर हैं—तो वह सोचेगा कि पास होना बहुत मुश्किल है। मैं अब पास नहीं हो सकता। इसलिए मेहनत करना बेकार है। साफ है कि वह आज नहीं तो कल पढ़ाई बंद कर देगा और जीवनभर असफल रहेगा।

इसके विरुद्ध उसके विचार यदि ऊंचे होंगे, तो वह सोचेगा—क्या हुआ, मैं फेल हो गया? इस बार पास तो हूंगा ही और इतने अधिक नंबर लाऊंगा कि मेरे साथी देखते रह जायेंगे।

राह चलते कहीं गिर पड़ने का यह मतलब थोड़े ही है कि गिर गए तो वहीं पड़े रहें। कुछ भूल हुई है, तभी तो गिर पड़े। अब उठो और आगे बढ़ो। साफ है कि ऐसा आदमी आज की असफलता को कल सफलता में बदल देगा और सफल मनुष्यों में अपना नाम लिखा लेगा।

काम की बात यह है कि अपने विचारों को कभी छोटा न रखें, उन्हें सदा ऊंचा रखें और उनके सहारे खुद ऊंचे उठें।

(2)

यह एक देहाती की बड़ी मजेदार कहानी है। सिर्फ मजेदार ही नहीं है, वह बहुत काम की भी है। वह बहुत गरीब था और उसकी इच्छा धनवान बनने की थी। पर, वह यह नहीं जानता था कि धन कैसे कमाया जाता है। उसने एक दिन किसी को कहते सुना कि रुपया ही रुपए को कमाता है। उसने सोचा, अब रुपया कमाने की तरकीब मिल गई है। इससे मैं खूब रुपया कमा लूंगा।

वह किसी से चांदी का एक रुपया लेकर शहर गया और बाजार में घूमने लगा। घूमते-घूमते वह मंडी में पहुंचा। वहां उसने एक सेठ को अपनी गद्दी पर बैठे देखा। उसके सामने हजारों रुपयों का ढेर लगा था और वह गिन-गिनकर उन्हें थैलियों में भर रहा था। वह देहाती दूकान में जाकर गद्दी के पास खड़ा हो गया और उसने अपना रुपया सेठ के रुपयों की ढेरी में फेंक दिया। सेठ ने देख लिया, पर उसने कहा कुछ नहीं। जब उसे खड़े-खड़े काफी देर हो गई, तो सेठ ने पूछा—'क्यों, क्या बात है?'

उसने कहा—'सेठजी, मैंने किसी से सुना था कि रुपया ही रुपए को कमाता है। इसलिए मैं अपने गांव से एक रुपया लेकर चला था। मैंने आपके रुपयों की ढेरी में वह फेंक दिया। अब मैं इंतजार कर रहा हूं कि मेरा रुपया आपके रुपयों को कमाकर वापस आए तो मैं अपने घर जाऊं।'

सेठजी ने कहा—'तुम बेकार खड़े हो, अपने घर जाओ।'

देहाती ने कहा—'क्यों सेठजी, क्या मैंने यह बात गलत सुनी थी कि रुपया ही रुपए को कमाता है? क्या रुपया रुपए को नहीं कमाता?'

सेठजी ने कहा—'बात तो तुमने ठीक सुनी थी, पर तुमने सुनकर बात को समझा नहीं। समझने की बात यह है कि तुम्हारा रुपया अकेला था और हमारे रुपए बहुत-से थे, मिले हुए थे। तुम्हारा अकेला रुपया हमारे रुपयों के पास आया और उन्होंने उसे कमा लिया।'

सेठजी ने आगे कहा—'रुपए की बात भी वैसी ही है, जैसी आदमी की। जो आदमी अकेला रहता

है—अपने बुरे स्वभाव के कारण जिसकी किसी से नहीं बनती, वह कभी किसी काम में सफल नहीं होता और जो अपने अच्छे स्वभाव के कारण चार आदमियों के साथ मिला-जुला रहता है, वह हर काम में सफल हो जाता है। कहावत है कि—अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता?'

देहाती ने आप-ही-आप कहा—'सेठजी ने ठीक कहा है। जो सफल होना चाहते हैं उन्हें मेल-जोल से रहने की आदत बना लेनी चाहिए। चलो, एक रुपया गया तो गया, पर लाख रुपए की बात हाथ आ गई।'

(3)

एक बार एक बड़ी सभा में किसी मसले पर बहस हो रही थी। एक तरफ एक विद्वान था और दूसरा विद्वान दूसरी तरफ। पहला विद्वान अपनी बात को मजबूत करने के लिए जो दलील पेश करता, दूसरा विद्वान उसे तुरंत काट देता। सब लोग तालियां बजाकर दूसरे विद्वान की प्रशंसा करते। पहला विद्वान इससे झेंप जाता और अपनी बात को पहले से अधिक मजबूत करने के लिए फिर नई दलील देता। पर, दूसरा विद्वान इतना तेज था कि उसकी हर दलील को तुरंत काट देता। बात जमने ही नहीं देता।

आखिर तक यही होता रहा। सबने मान लिया कि पहला विद्वान हार गया है और दूसरा जीत गया है।

हारा हुआ आदमी अकसर झुंझला उठता है। कहावत भी है कि—'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे।'—झुंझलाकर उस हारे हुए विद्वान ने जीते हुए विद्वान से कहा—'आज की जीत से अकड़ो मत। आखिर तुम हो तो वही, जो मेरे पिता के जूतों पर पालिश किया करते थे।'

जीते हुए विद्वान ने शांति से कहा—'आपकी इस बात से मेरी हीनता या नीचता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आप यह तो कह नहीं रहे कि मैं पालिश ठीक-ठीक नहीं करता था और मेरे ग्राहक मुझसे नाराज रहते थे या मेरे काम को पसंद नहीं करते थे।'

उन दोनों की बात सुनकर एकत्र लोगों को एक दूसरी बात याद आई और उसकी चर्चा भी होने लगी।

बात यह थी—एक बढ़ई के लिए लुहार ने एक हथौड़ा बनाया। वह हथौड़ा इतना अच्छा था कि बढ़ई ने ठीकेदार से उसकी तारीफ की। ठीकेदार ने लुहार से कहा कि—'तुम मेरे लिए भी कुछ हथौड़े बना दो, पर वे उस बढ़ई के हथौड़े से अच्छे हों।'

लुहार ने ठीकेदार को जवाब दिया—'मैं उस हथौड़े से अच्छे हथौड़े आपके लिए नहीं बना सकता।'

ठीकेदार को ताज्जुब हुआ और उसने पूछा—'क्यों? तुम उस हथौड़े से अच्छे हथौड़े मेरे लिए क्यों नहीं बना सकते, जब कि मैं तुम्हें मुंहमांगे दाम देने को तैयार हूं?'

लुहार ने कहा—'दाम की बात नहीं है। बात यह है कि मैं जब भी कोई चीज बनाता हूं, तो उसमें अपनी पूरी योग्यता, पूरी लगन और पूरी क्षमता लगा देता हूं। बढ़ई का हथौड़ा भी मैंने इसी तरह बनाया था। अब आपकी बात पर 'हां' कहने का मतलब यह होगा कि बढ़ई का हथौड़ा बनाने में मैंने कुछ कमी रखी और उसे बनाने में अपनी पूरी योग्यता, पूरी लगन और पूरी क्षमता खर्च नहीं की। भला मैं यह बात कैसे मान सकता हूं?'

बात विद्वान की भी सुन ली और लुहार की भी। विद्वान तो विद्वान है और लुहार बेचारा लुहार ठहरा। पर, दोनों की बात का मतलब एक ही है कि जीवन की ऊंचाई यही है कि जो भी काम करें, उसे पूर्ण और श्रेष्ठ बनाने में कुछ भी कसर न रखें और जीवन की निचाई यह है कि हम बेगार की तरह काम करें और उसे करने में पूरा मन न लगायें।

मतलब यह है कि ऊंचा आदमी वह है, जो अपने हर काम को अच्छी तरह करता है और नीचा आदमी वह है, जो अपने काम को अच्छी तरह नहीं करता। हम ऊंचे हैं या नीचे—इसकी एक कसौटी यह है कि हम अपने हर काम को, चाहे वह छोटे-से-छोटा ही क्यों न हो, अच्छी तरह करते हैं या नहीं? ❖

भंवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

ZKL's New Force bearings has just got gold.

But the real winner is you!

Winner of the Gold medal at the best exhibits contest at the 50th International Engineering Fair, Brno, ZKL's New Force bearings are designed for the most demanding mountings-gearboxes, railway vehicles, presses, rolling mills, paper machines, pumps, machine tools, power equipments, printing machinery etc. Higher dynamic load rating gives bearings a longer life and permits laying of structures of lesser dimensions by accommodating the same load, thus reducing the total cost of the installation as well as achieving energy savings in operation. So be a frontrunner in your industry with the New Force technology, only from ZKL.

ZKL Bearings (India) Pvt. Ltd.

ZKL Bearings (India) Pvt. Ltd.
B-3/1A Gillander House, 8 Netaji Subhash Road, Kolkata-700001 Tel: +91-33-22138591-95, 22428441
Fax: +91-33-22428440 Email: kolkata@zklindia.com Website: www.zklindia.com

जैन भारती, फरवरी, 2011 ■ प्रेषण दिनांक 28 जनवरी, 2011
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

With best compliments from :

DEEN DAYAL SINGHANIA

East India Agencies
A.T. Road, **Guwahati**
A House of 'TATA' Heavy & Light Commercial
Vehicle Genuine Spare Parts

E-Pack Polymers Pvt. Ltd.
Greater Noida
No.1 EPS (Thermocoal) Manufacturer in India

East India Auto Traders Pvt. Ltd.
Guwahati
A Distribution House of Lubricants & Spare Parts

E-Durables
Dehradun
One of the Largest Electronic Manufacturing Services

E-Mart International
Dona Planet, **Guwahati**
Master Franchise of 'Welhome' Welspun Retail Limited

Ennov Techno Tools Pvt. Ltd.
Noida
Manufacturer of PU Panel, Telecom Shelters etc.

E-Vision
Dehradun
Manufacturer of Sheet Metal, Plastic Moulded Products

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779